प्रथम संस्करण, जून १९७१ ई.

प्रकाशक : नमिता प्रकाशन
ब्लॉक नं. ६, आनन्दनगर, टाउन हॉल,
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

मूल्य : ७ रु. ५० पैसे

मुद्रक : ज. रा. बर्दापूरकर
व्यवस्थापक, जयहिंद प्रिंटिंग प्रेस,
सन्मित्र कॉलनी, औरंगाबाद

सुहृद्वर भाईसाहब
डॉ. भ. ह. राजूरकर
को सादर निवेदित

अ नु क्र म

१. मनोविकारों का मूल्यांकन

१. मनोविकारों का मूल्यांकन

चिन्तामणि (भाग एक) में, आरंभ मे दस निबन्ध ऐसे हैं जिनको उसी पुस्तक के अन्य निबधों से अलग किया जा सकता है। इन निबधों का सम्बन्ध मनोविकारों से है। प्रथम निबध का शीर्षक 'भाव या मनोविकार' है और बाद के नौ निबध क्रमश उत्साह, श्रद्धा–भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध हैं। आचार्य शुक्ल के इन निबधो को उनके अन्य निबंधों से अलग किया जा सकता है। इन का सम्बन्ध विषय की दृष्टि से मनोविज्ञान से है। इन निबधों को मनोवैज्ञानिक निबध कहा जाता रहा है। प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में ये निबंध मनो–वैज्ञानिक हैं ? और यदि इनको मनोवैज्ञानिक निबध मान लिया जाता है तो मनोविज्ञान विषय मे आचार्य शुक्ल ने जो कार्य किया है, उस कार्य का मूल्याकन (विषय वस्तु के आधार पर) होना चाहिए और यदि इन्हे मनो-

वैज्ञानिक निबन्ध नही माना जाता तो फिर इन्हें किस प्रकार के निबन्ध माना जाय? इस बात का निर्णय होना चाहिए। साथ ही इस बात पर भी विचार होना चाहिए कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान ? विषय प्रधान और व्यक्ति प्रधान के साथ साथ इन निबन्धो में व्यक्त विचारों का विश्लेषण होना चाहिए। इन्ही सब प्रश्नो को ध्यान में रखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इन निबन्धों का विवेचन एव विश्लेषण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। उनके ये निबन्ध उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करने में उपयोगी होने के नाते–साथ ही साथ–उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया जा रहा है। इस सारे विवेचन एवं विश्लेषण में चिन्तामणी (भाग एक) के आरम्भ के दस निबन्धों को ही आधार माना गया है।

विषय–प्रधान

निबन्ध गद्य की कसौटी है और इस नाते निबन्ध विचार प्रधान होते हैं और ये विचार शीर्षक मे दिए हुए विषय के अनुसार होने चाहिए। मनोविकारों से सम्बन्धित ये सारे निबन्ध पढ़ते समय एवं पढ़ने के बाद पाठक पर (विषय पर विचार करनेवाले पर) यह प्रभाव छोड़ जाते हैं कि निबन्ध विषय के अनुसार लिखे गए हैं। लगता है आचार्य शुक्ल ने विषय के साथ पूरा न्याय किया है। यह प्रभाव पाठक पर उस समय तक वर्तमान रहता है जब तक कि विषय से हटकर पाठक उन विचारो का (विषय से सम्बद्ध विचारों का) विश्लेषण करने की क्षमता नही रखता। विषय मनोविकारों से सम्बन्धित है अतः इन्हें (इन निबन्धो को) मनोवैज्ञानिक–निबन्ध कहा गया है। यदि इन निबन्धों को मनोवैज्ञानिक (मनोविज्ञान विषय का विशेषज्ञ) पढ़ेगा तो वह इन निबन्धों को 'विषय–प्रधान' न कहकर 'व्यक्ति–प्रधान' कहना ही उचित समझेगा। यहाँ पर इन निबन्धों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक के नाते से करना सभव नही। विषय–प्रधान निबन्धों पर विचार करते समय ध्यान साधारण पाठक का रहा है।

इसमें कोई सन्देह नही कि इन निबन्धों में आचार्य शुक्ल की प्रतिभा व्यक्त हुई है। प्रतिभा इसलिए कहा जा रहा है कि विषय के साथ व्यक्ति सम्बद्ध है। मनोविज्ञान की पुस्तके पढ़ते समय पाठक का ध्यान विषय पर रहता है। फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिक की पुस्तक पढ़े (प्रतिभाशाली मनोवैज्ञानिक) तब भी पढ़ते समय यह अनुभव किया जा सकता है कि लेखक में पर्यवेक्षण शक्ति है। पर्यवेक्षण के अनुसार तथ्य प्रस्तुत किए गए है और तथ्यों के उपरान्त, साथ साथ उनका विश्लेषण है। अपने विषय पर निष्कर्ष देने से

पूर्व फ्रायड भरपूर सामग्री (विषय से सम्बद्ध) देता है। फ्रायड आरम्भ मे अपने निष्कर्ष नही लिख देता। फ्रायड ही क्यो कोई भी विशेषज्ञ अपने विषय का वैज्ञानिक विवेचन करते समय निष्कर्षो को तत्काल और आरम्भ मे ही एव बडे विश्वास के साथ नही लिखता। क्या आचार्य शुक्ल इन निबन्धो में एक मनोवैज्ञानिक के रूप मे निबन्ध लिख रहे है? उत्तर लिखने की आवश्यकता नही। इतनी बात स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के लेखन मे अपूर्व विश्वास है और उनका यह विश्वास उनके व्यक्तित्व को सबल बनता है। इस अपूर्व विश्वास के साथ लिखते हुए भी आचार्य शुक्ल विषय का विवेचन वैज्ञानिक ढग से करते है। अपने विश्वासो को तर्क का आधार प्रस्तुत करने के कारण ही उनके ये निबन्ध विषय–प्रधान प्रतीत होते है।

निबन्ध विषय प्रधान इस नाते बन पड़े है कि विषय का विवेचन, वर्गीकरण एव विश्लेषण वैज्ञानिक है; उदाहरण एव तत्सम्बन्धी धारणाएँ तदनुकूल है। आरम्भ से अन्त तक शुक्लजी यह अनुभव नही होने देते कि निबन्ध विषय की लीक से हट रहा है।

अब विषय की ओर आएं। भाव या मनोविकारो से सम्बन्धित ये निबन्ध है। उत्साह से लेकर क्रोध तक सभी विषय मनोविकारो से सम्बन्धित ही है। आचार्य शुक्ल ' मनोविकार ' शब्द का प्रयोग भाव के वजन पर ही करते है। केवल शीर्षक में ही नहीं अपितु अपने निबन्ध में भी वे लिखते है "नाना विषयो के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग सघटित होते है जो भाव या मनोविकार कहलाते है।" (पृ १) आचार्य शुक्ल ने मनोविज्ञान को बीच में आने नही दिया है। मनोविकारो का (भावों का) विश्लेषण करते समय मन का विश्लेषण किया गया है, यह नही कहा जा सकता। फ्रायड का कहना है– " मनोविश्लेषण के दो सिद्धान्त ऐसे हैं जो सारी दुनिया को नाराज़ करते है, एक तो बौद्धिक पूर्वाग्रहों (Prejudice) अर्थात् बने हुए सस्कारों को चोट पहुँचाता है और दूसरा नैतिक तथा सौंदर्य सम्बन्धी सस्कारों या पूर्वाग्रहों को। इन पूर्वाग्रहो को मामूली चीज नही समझना चाहिए। ये बडी जबरदस्त चीज है और मनुष्य के विकास की मजिलों के कीमती और आवश्यक अवशेष है। उनको भावनाओं के बल से कायम रखा जाता है और उनसे बड़ा कडा मुकाबला है"[1] क्या आचार्य शुक्ल मनोविकारो का विश्लेषण करने मे इन पूर्वाग्रहों से बचे हुए है? ऐसा प्रतीत नही

१. मनोविश्लेषण–फ्रायड–(अनुवादक . देवेन्द्रकुमार वेदालंकार)–पृ. १५.

होता। इसलिए इन्हें विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक निबन्ध नहीं कहा जा सकता। मनोविकारों से सम्बन्धित इन निबन्धों के लेखन में दृष्टि व्यक्ति पर नहीं समाज पर रही है। अतः इन निबन्धों को मनोवैज्ञानिक निबन्ध न कहकर 'समाज-मनोविज्ञान' (Social-Psychology) के निबन्ध कहना अधिक उपयुक्त होगा। समाज-मनोविज्ञान विशेष रूप से व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समूह और समूह-समूह के पारस्परिक क्रियाओं का अध्ययन करने में रुचि रखता है।[१] आचार्य शुक्ल के ये निबन्ध विशेष रूप से व्यक्ति-व्यक्ति एवं व्यक्ति-समूह का अध्ययन हैं। यहाँ भी यह अध्ययन एक निश्चित समाज का अध्ययन है। भारतीय संस्कृति (विशेष रूप से तुलसीदास-रामायण की संस्कृति) के मूल्यों का सामाजिक विश्लेषण (व्यक्ति मन के संदर्भ में) इन निबन्धों में हुआ है। ऐसी स्थिति में समाज-मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हुए भी ये निबन्ध विशेष सांस्कृतिक परिवेश से युक्त समाज का विश्लेषण करनेवाले हैं। यदि हम उक्त सांस्कृतिक परिवेश एवं सामाजिक विश्वासों एवं मूल्यों को स्वीकार कर लेते हैं तो ये निबन्ध वैज्ञानिक प्रतीत होंगे। एक निश्चित मूल्यों से युक्त समाज का समाज–मनोवैज्ञानिक अध्ययन इन निबन्धों में मिलता है।

उत्साह से लेकर क्रोध तक शीर्षक (निबन्धों के शीर्षक) के अनुसार शुक्लजी ने प्रत्येक मनोविकार की परिभाषा तो दी ही है किन्तु बीच-बीच में एक मनोविकार से दूसरे मनोविकार का अन्तर बतलाने के लिए भी सूक्ष्माति–सूक्ष्म अर्थ को स्पष्ट किया है। जहाँ तक परिभाषाओं का प्रश्न है, वहाँ वे विषय के साथ पूरा न्याय कर रहे हैं। मनोविकारों की परिभाषाओं के साथ साथ मनोविकारों की स्थितियों (विकल्पों) का वर्गीकरण भी शुक्लजी करते हैं। उनका यह वर्गीकरण वैज्ञानिक है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :—

परिभाषाएँ :

१) इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती। (प्रयत्न) पृ. ३.

२) साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। (उत्साह) पृ. ६.

---

१. "Social psychology is interested in three basic interactional relationships: person-to-person, person-to-group and group-to-group."

Hand book of Social Psychology-by-Kimball Young.Pg. 1

३) जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है। (उत्साह) पृ. १४.

४) बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार का नाम ही प्रयत्न है। (प्रयत्न) पृ. १४.

५) कर्म में आनन्द अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। (कर्मण्य) पृ. १५.

६) श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। (श्रद्धा) पृ. १७.

७) श्रद्धा न्याय-बुद्धि के पलडे पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलडे पर रक्खे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि के हिसाब से होती है। श्रद्धा सत्कर्म या सद्‌गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा हो ही नहीं सकता। (श्रद्धा) पृ. ३०.

८) श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। (भक्ति) पृ. ३२

९) भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत अंश स्वार्थ (परिवार वा शारीरिक सुख आदि) से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं। इसी का नाम है आत्मनिवेदन। (आत्मनिवेदन) पृ. ३३.

१०) दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, थोडे क्लेश या शोक पर जो वेग-रहित दुख होता है, उसे सहानुभूति कहते हैं। (सहानुभूति) पृ. ५२.

११) दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारण होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है-उनकी स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है-उसे लज्जा कहते हैं। (लज्जा) पृ. ५६

१२) अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते है। (ग्लानि) पृ. ५८.

१३) आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है। (आशंका) पृ. ६०.

१४) लज्जा का एक हलका रूप संकोच है जो किसी काम को करने के पहले ही होता है। (संकोच) पृ. ३५.

१५) किसी प्रकार का सुख या आनंद देनेवाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिती को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते है। (लोभ) पृ. ६०.

१६) जब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते है। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभ ही कही जा सकती है, पर साधारण बोल-चाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। (प्रेम) पृ. ८६.

१७) अरुचिकर विषयो के उपस्थित होने पर अपने ज्ञानपथ से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करनेवाला जो दुख होता है उसे घृणा कहते हैं। (घृणा) पृ. ९७.

१८) दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुख होता है जिसे ईर्ष्या कहते है ... ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी सम्प्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। (ईर्ष्या) पृ. १०७.

१९) किसी आती हुई आपदा की भावना या दुख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभकारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं। (भय) पृ. १२४.

२०) दुख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी संभावना मात्र के अनुभव से जो आवेग-शून्य भय होता है, उसे आशंका कहते हैं। (आशंका) पृ. १२६.

२१) क्रोध दुख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से होता है। (क्रोध) पृ. १३१.

२२) वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमे दुख पहुँचा है उसपर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध हमारे हृदय में

बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। (वैर) पृ. १३८.

२३) क्रोध का एक हलका रूप है चिड़चिड़ाहट जिसकी व्यंजना प्रायः शब्दों तक ही रहती है। (चिड़चिड़ाहट) पृ. १३९.

२४) किसी बात का बुरा लगना, उसकी असह्यता का क्षोभयुक्त और आवेगपूर्ण अनुभव होना, अमर्ष कहलाता है। (अमर्ष) पृ. १३९ - आदि आदि।

इन परिभाषाओं में 'मनोविकार' को सामान्य मानकर अर्थवत्ता प्रदान की गई है। प्रयत्न, उत्साह, कर्मण्य, श्रद्धा, भक्ति, आत्मनिवेदन, सहानुभूति, लज्जा, ग्लानि, सकोच, लोभ, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध, चिड़चिड़ाहट और अमर्ष शब्दों के अर्थ इन परिभाषाओं के कारण स्पष्ट हो गए है। परिभाषाओं के साथ साथ इन 'मनोविकारों' की तुलना की गई है; परस्पर सम्बधित एव विपरीत मनोविकारो को स्पष्ट किया गया है। कुछ उदाहरण :

तुलनाएँ :-

१) यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते है, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नही पर श्रद्धा मे मध्यस्थ अपेक्षित है। (प्रेम और श्रद्धा) पृ १९

२) श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति होती है। (श्रद्धा और दया) पृ. ३।

३) दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानी की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। (करुणा और क्रोध) पृ ४४

४) लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। (लोभ और प्रेम) पृ. ६९

५) क्रोध का विषय पीड़ा या हानि पहुँचानेवाला होता है, इससे क्रोधी उसे नष्ट करने मे प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इन्द्रिय या मन के व्यापार मे सकोच मात्र उत्पन्न करनेवाला होता है इससे मनुष्य को उतना उग्र उद्वेग नही होता और वह घृणा के

विषय की हानि करने में तुरन्त बिना कुछ विचार किए प्रवृत्त नहीं होता। (क्रोध और घृणा) पृ. ९७–९८

६) ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्धा वस्तुगत (ईर्ष्या और स्पर्धा) पृ. १०८.

७) वैर और द्वेष में अन्तर यह है कि वैर अपनी किसी वास्तविक हानि के प्रतिकार में होता है, पर द्वेष अपनी किसी हानि के कारण या लाभ की आशा में नहीं किया जाता। (वैर और द्वेष) पृ. १०९

८) क्रोध दुख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिए। (क्रोध और भय) पृ. १२४

९) दुखात्मक भावों में आशा की वही स्थिति समझनी चाहिए जो सुखात्मक भावों में आशाकी। (आशंका और आशा) पृ. १२६ आदि आदि।

मनोविकारों की परिभाषाएं परस्पर सम्बद्ध तुलनाएँ आदि लिखने में विषय का विवेचन शास्त्रीय है। यहाँ शुक्लजी से सहमत होना ही पड़ता है। उन्होंने मनोविरों के विभिन्न विकल्प दिए हैं; उनकी अलग अलग दशाएं बतलाई है और साथ ही साथ वैज्ञानिक वर्गीकरण भी किया है। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :–

विकल्प का उदाहरण : जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सब के प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते है। (उत्साह के भेद) पृ. ३.

अलग अलग दशाओं या स्थितियों का उदाहरण : स्थितिभेद से प्रिय या अच्छी लगनेवाली वस्तु के सम्बध में इच्छा दो प्रकार की होती है --- (१) प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा (२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है ... (१) इतने संपर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो (२) इतने सम्पर्क की

इच्छा जितनी सब कोई या बहुतसे लोग एक साथ रख सकते हो। (लोभ की स्थितियाँ) पृ ७१

वर्गीकरण का उदाहरण : स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है। (१) प्रतिभा-सम्बधिनी, (२) शील-सम्बन्धिनी और (३) साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी। (श्रद्धा का वर्गीकरण) पृ २२. आदि आदि।

मनोविकारो के विकल्प, उनकी स्थितियाँ या दशाएँ, उनके विभिन्न रूप एवं उनको वर्गीकृत करते समय मनोविकार की किसी स्थिति को छोड दिया गया है, ऐसा प्रतीत नही होता। इस सारे विवेचन मे विषय के विस्तार को व्यापक स्तर प्रदान किया गया है। इस विवेचन मे आचार्य शुक्ल का प्रखर ज्ञान व्यक्त हुआ है। मनोविज्ञान या समाज-मनोविज्ञान का जानकार भी इनका विरोध नहीं कर सकेगा। यह इसलिए कि मनोविकार को सामान्य मानकर उनका वैज्ञानिक विवेचन विषयानुसार प्रस्तुत किया गया है। अपने कथन के उपयुक्त शुक्लजी ने उदाहरण भी दिए है।

मनोविकार और साहित्य

आचार्य शुक्ल भावक्षेत्र को पवित्र मानते है। उनका कविता की शक्ति मे अपूर्व विश्वास है। भावक्षेत्र अर्थात मनोविकारों का क्षेत्र (शुक्लजी के ही शब्दों मे) पवित्र है और इस क्षेत्र की पवित्रता बनाए रखने के लिए कविता की आवश्यकता है। आचार्य शुक्ल आलोचक है और आलोचक की सवेदना विकसित होती है। इस नाते से शुक्लजी ने अपनी विकसित सवेदना का परिचय दिया भी है। इन निबन्धों में उन्होंने अपनी रसानुभूति का बौद्धिक विश्लेपण किया है। इस बौद्धिक विश्लेषण में उनकी दृष्टि मूलत: कविता पर रही है। एक मनोवैज्ञानिक (Psyohologist) इन मनोविकारो का अध्ययन प्रस्तुत करते समय इस बात का ध्यान रखेगा कि 'मनोविकारो' को कैसे पहचाना जा सकता है ? वह यह भी देखेगा कि इनकी अभिव्यक्ति कैसे होती है ? इन को पहचान कर ही वह 'मन' का विश्लेपण कर सकेगा। मानसिक समस्याओ को पहचानने के लिए एव उनका निदान प्रस्तुत करने के लिए मनोवैज्ञानिक इन मनोविकारों का अध्ययन करेगा। आचार्य शुक्ल का उद्देश्य इस प्रकार का है ऐसा प्रतीत नही होता। इसी तरह समाजशास्त्री की तरह वे मनोविकारों का अध्ययन नहीं करते। यह स्पष्ट है कि उनका यह अध्ययन एव तदनुसार लेखन काव्यशास्त्र के आचार्य होने के नाते है। कर्मयोग, ज्ञानयोग के सदृश वे भावयोग को मानते है और भावयोग की साधना काव्य-साधना

है। इस विश्वास पर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रणयन किया है। इस प्रबन्ध में मनोविकारों का स्वतन्त्र रूप से बौद्धिक विवेचन इन निबंधों में किया गया है। अतः दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल मनोविकारों से सम्बन्धित निबन्धों में एक मनोवैज्ञानिक के नाते या समाजशास्त्री के नाते नहीं, काव्यशास्त्र के आचार्य के नाते सामने आते हैं। प्रमुख रूप से उनकी दृष्टि साहित्य पर रही है। इस बात का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि इन निबन्धों में मनोविकारों को स्पष्ट करने के लिए कविता से अनेक उदाहरण दिए गए हैं। एक मनोवैज्ञानिक अपने उदाहरण मानसिक रूप से ग्रस्त रोगियों से देगा। एक समाजशास्त्री अपने उदाहरण सामाजिक इतिहास से देगा या सामाजिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए अपने निष्कर्षों को लिखेगा। आचार्य शुक्ल के उदाहरण कविता से (साहित्य से) सम्बन्ध रखने के नाते यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनके ये निबन्ध (मनोविकारों से सम्बन्धित निबन्ध) साहित्य से सम्बन्धित हैं और रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करनेवाले हैं। विषय की दृष्टि से ये निबन्ध मनोविज्ञान के नहीं काव्यशास्त्र के माने जाने चाहिए।

व्यक्ति–प्रधान

जैसे कि पहले ही कहा गया है आचार्य शुक्ल के ये निबन्ध विषय बोध के उपरान्त यदि गहराई से देखे तो व्यक्ति–प्रधान प्रतीत होंगे। आचार्य शुक्ल ने निवेदन में लिखा है, 'इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिये कुछ-न-कुछ पाता रहा है' (पृ. १, निवेदन) अपनी बात कहने के उपरान्त शुक्लजी यह निर्णय पाठकों पर छोड़ देते हैं कि इन्हें विषय-प्रधान माना जाय या व्यक्ति-प्रधान। पाठकों पर निर्णय छोड़ने से पूर्व उनके निवेदन के स्वर को देखा जाय तो वह स्वर 'व्यक्ति-प्रधान' का स्वर प्रतीत होता है। 'मेरी अन्तर्यात्रा' शब्द में 'व्यक्ति' का बोध है, विषय का बोध नहीं। बुद्धि हो या हृदय शुक्लजी ने दोनों को 'मेरी' ही माना है और इस 'मेरी' शब्द ने उनके ही शब्दों में निबन्धों को व्यक्ति-प्रधान बना दिया है। बुद्धि भी मेरी है और हृदय भी मेरा है ध्यान देने योग्य कथन यह है कि

यात्रा के लिए निकली बुद्धि ही है। हृदय उसके पीछे-पीछे है। यात्रा का श्रम बुद्धि का श्रम है और हृदय ने तो श्रमका परिहार किया है। आचार्य शुक्ल का यह निवेदन स्वय इस बात को स्पष्ट कर देता है कि अपने निबन्धों को वे बुद्धि-प्रधान रखना चाहते है। यात्रा के लिए बुद्धि निकली है और श्रम भी बुद्धि का है। किन्तु इस बुद्धि को उन्हो ने मेरी कहा इसीलिये निबन्ध (बुद्धि प्रधान होते हुए भी) व्यक्ति-प्रधान हो गए हैं।

ज्ञान का उपयोग बुद्धि है। इस उपयोग मे (ज्ञान के उपयोग में अर्थात् बुद्धि मे) श्रम होता है। इस पथ पर चलना (यात्रा करना) और रुचि के साथ चलना धैर्य का काम है। बुद्धि को व्यक्तित्व का अंग बनाना और उस पर दृढ़ बने रहना वास्तव मे विचारों को तर्क का आधार प्रस्तुत करना है एव विषय को अपना बनाकर कहना है। आचार्य शुक्ल इन निबन्धों को विषय-प्रधान (विकल्प के रूप में) कहते समय इस बात का अनुभव करते हैं कि निबन्धों मे बुद्धि का प्राधान्य है और बुद्धि विषयानुसार यात्रा पथ पर चलती रही है। आचार्य शुक्ल की इस प्रखर बुद्धिमत्ता को विद्वानों ने स्वीकार किया है। आज भी उनका व्यक्तित्व यदि सब को प्रभावित करता है तो वह उनकी बुद्धिमत्ता के कारण ही। यह सब होने पर भी इस बौद्धिक विवेचन मे (सहज ही में लक्षित न होने पर भी) व्यक्ति-प्रधान का स्वर मुखरित हुआ है।

ज्ञान या बुद्धि (बुद्धि में ज्ञान का उपयोग होता है, इस नाते) जब विश्वास का रूप ग्रहण कर ले तब फिर वह ज्ञान व्यक्ति-प्रधान हो जाता है। शुक्लजी के लेखन में, कथन में, परिभाषा देने में, वर्गीकरण करने मे या अपने कथन की विवेचना में अपूर्व विश्वास दिखलाई देता है। उनके इस विश्वास के कारण ही उनका खण्डन करने मे भय का अनुभव होता है। शुक्लजी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने अपने विश्वासों को बौद्धिक आधार प्रदान किया है। इसीलिये शुक्लजी का विरोध या खडन बौद्धिक आधार पर ही सभव है। शुक्लजी के विचारो मे शुक्लजी का विश्वास झलकता है और इस विश्वास के कारण ही उनके विषय-प्रधान निबन्ध, व्यक्ति-प्रधान हो जाते हैं।

आचार्य शुक्लजी के व्यक्ति-रूप का (व्यक्तित्व का) विश्लेषण करने के लिए उनकी विश्वास-प्रणाली का अध्ययन करना होगा। इस सम्बध मे किम्बाल यग का कहना है कि "विश्वास प्रणाली निश्चित ही सामाजिक दृष्टि से व्युत्पन्न प्रणाली है, जो प्रतीकात्मक आदान-प्रदान के आधार पर व्यक्त होती रहती है। अतः वह सापेक्ष सामाजिक अनुभव (Shared experience)

है और उस अनुभव का संदर्भ से कटकर सामाजिक [illegible] कोई अर्थ नहीं। वह विश्वास-प्रणाली बहुत हद तक सम्प्रेषण के आधार पर उत्पन्न होती है और उसी आधार पर स्थिर भी रहती है और उसका भाषा एवं उसके अर्थ के साथ निश्चित सम्बन्ध बना हुआ होता है।"[1] किम्बाल यंग के इस कथन के आलोक में आचार्य शुक्ल की विश्वास-प्रणाली का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि यह अध्ययन प्रस्तुत करना कठीण है, फिर भी नीचे इस दिशा मे प्रयास किया गया है। इससे सब का सहमत होना संभव नही।

मनोविकारो की व्याख्या एव विवेचन करते समय आचार्य शुक्ल नें उदाहरण दिए है। इन उदाहरणो का विश्लेषण करते समय शुक्लजी अपने आवेगो को एवं विश्वासों को व्यक्त कर देते है। इस स्थिति में पहूँचकर वे निर्णय देने लगते है। अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक, मगल-अमगल आदि के सम्बन्ध में विधान प्रस्तुत करते जाते है। कोई मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्री अपने विषय का विवेचन करते हुए इस प्रकार के निर्णय नही देगा। मनोविकारो के सम्बन्ध मे दिए गए निर्णयों के कुछ और उदाहरण :—

१) एक जाति को मूर्ति-पूजा करते देख दूसरी जाति के मत-प्रवर्तक ने उसे गुनाहों में दाखिल किया है। एक सम्प्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण करते देख दूसरे सम्प्रदाय के प्रचारक ने उनके दर्शन तक मे पाप लगाया है। भावक्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गन्दा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए। पृ. ५.

२) शील, कला और साधन-सम्पत्ति-श्रद्धा के इन तीन विषयों में से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे? इसका बेधडक यही उत्तर दिया जा सकता है कि जनसाधारण

---

१ "A belief system is definitely a social product which arises out of the matrix of symbolic interaction Hence it is a shared experience and has no meaning outside a socile context. It arises and is maintaind largely through communication and it has a very definite relationship of language and meaning"

– Hand book of Social Psychology – By – Kimball Young Page 187

के लिए शील का ही सब से पहले ध्यान होना स्वाभाविक है, क्यों कि उसका सम्बन्ध मनुष्य-मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है। पृ. २७.

३) लोक-व्यवस्था के भीतर कुछ विशेष वर्ग के लोग, जैसे शिष्ट, विद्वान, धर्म-चिन्तक, शासन-कार्य पर नियुक्त अधिकारी, देश-रक्षा मे प्राण देने को तैयार वीर इत्यादि औरो से अधिक आदर और सम्मान के पात्र होते हैं। इनके प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित न करना अपराध है। अन्य वर्ग के लोग लोकधर्मानुसार इन्हे बडा मानने को विवश है। पर इन्हे दूसरों को छोटा प्रकट करने या मनाने तक का अधिकार नही है। जहाँ इन्होंने ऐसा किया कि सम्मान का स्वत्व खोया। पृ. ११३. आदि आदि।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते है। ये उदाहरण आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व का उद्घाटन करते है। आचार्य शुक्ल ने स्थान-स्थान पर लोक-धर्म का उल्लेख किया है और मनोविकारों की व्यवस्था लोकधर्मानुसार होनी चाहिए, ऐसा उनका आग्रह है। शील-शक्ति सौंदर्य की त्रिवेणी में शुक्लजी का अपूर्व विश्वास है। इस अपूर्व विश्वास का आधार पुरुषोत्तम रामचन्द्र हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस मे राम का शील, राम की शक्ति एवं राम का सौंदर्य इन सब का साक्षात्कार प्रस्तुत किया है एवं इसी के अनुसार लोकधर्म की स्थापना की है। लोकधर्म आचार्य शुक्ल का अपना शब्द है और जिसकी व्याख्या तुलसीदास के मानस के आधार पर संभव है। मनोविकारो से सम्बन्धित उदाहरणों को प्रस्तुत करते समय विवेक के आधार पर—अच्छे बुरे का निर्णय—(लोकधर्मानुसार)—अपना मत शुक्लजी व्यक्त करते जाते है। अपने इस मत मे (विचारधारा मे) वे पक्के है। उनका यह लोकधर्म भारतीय साँचे मे ढला हुआ है। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी नें उनकी इस महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है—"उन्हो ने (आचार्य शुक्ल ने) रस और अलकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हे ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलकार हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत होने से बचे। दूसरे शब्दो मे शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नही, उन्हो ने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।"[1] आचार्य बाजपेयीजीने

१. हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी—नन्ददुलारे वाजपेयी—(प्रकाशन तिथि १९५८ ई) पृ. ५५.

एक प्रकार से शुक्ल को ठीक पहचाना है मनोविकारों से सम्बंधित निबंध से रस-अलंकारशास्त्र (भारतीय काव्यशास्त्र) को मनोवैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की गई है। रस सिद्धान्त को इसी आधार पर नया प्राण दिया गया है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सिद्धान्त, सिद्धान्त के अनुसार मतवाद एवं तदनुकूल धर्म और उस धर्म के अनुसार मनोविकारों की व्यवस्था शुक्लजी बतलाते चलते हैं। यह सब उनकी विश्वास प्रणाली है जो विशेष संस्कृति के मूल्यबोध से सम्बन्धित है।

आचार्य शुक्ल की बुद्धि की यात्रा अपने स्थान पर ठीक है। उसका सहज विरोध संभव नहीं। किन्तु इस बुद्धि के साथ-साथ हृदय रमता हुआ जब अपनी यात्रा के श्रम का परिहार करने लगता है, उस समय उनका आवेग उमडता है। उनके आवेगपूर्ण स्थल, उनके व्यक्तित्व को उनकी नैतिक मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं:-

१) जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिडिया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणयसौरभ पूर्ण मंजरियों से लदे हुए हैं; जो यह भी नहीं झाकते कि किसानों के झोंपड़े के भीतर क्या हो रहा है ? वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देस-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए, कि 'भाइयो बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दुख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझने नहीं बनता उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे; पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली से अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।' प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करनेवाले नहीं ... जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा, वह इस प्रकार कहेगा (नैनन सों रसखान - कुंजन ऊपर वारौं) रसखान का सवैया पृ ७७

२) किसी अवध के तअल्लुकेदार के लिए बड़ाई का यह स्वाँग दिखाना आवश्यक नहीं कि वह जब मन में आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ गरीबोंको पिटवाता चले। किसी

देहाती थानेदार के लिए यह जरूरी नहीं कि वह सिर पर लाल पगडी रख गँवारो को गाली देकर हर समय अपनी बडाई का अनुभव करता और कराता रहे। पृ. ११५ आदि आदि।

ऐसे और भी स्थल है। मनोविकारो के विकल्प एव उनकी विभिन्न दशाओं को स्पष्ट करते समय जो उदाहरण दिए गए हैं, उन उदाहरणों में शुक्लजी का मन रमता है। कभी वे मुग्ध होते है और कभी वे विरोध करते है। उनका विरोध खुलकर व्यक्त हुआ है और इस विरोध में उनको नैतिक मान्यताओं को वाणी मिली है।

विचारधारा

आचार्य शुक्ल की विचारधारा मे धर्म (शुक्लजी के शब्दों मे लोकधर्म) व्यक्त हुआ है। उनका यह धर्म समाज की स्थिति–रक्षा के लिए है। समाज का मगल उनका लक्ष्य है। स्थूल रूप से उनके इस धर्म (लोकधर्म) मे पारम्परिक भारतीय विचारधारा साहित्यिक (काव्यशास्त्रीय) बाना लिए सामने आई हैं। धर्म की दृष्टि से (विचारधारा से युक्त) कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे है :–

१) शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है। उनके मूल या मर्म तक उसकी गति नही होती। भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति–निवृत्ति को जागरित रखनेवाली शक्ति कविता है जो धर्म–क्षेत्र मे शक्ति–भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मगल और लोक के मगल का सगम उसी के भीतर दिखाई पड़ता है। पृ. ५.

२) जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करनेवाला क्षात्रधर्म है। क्षात्र-धर्म के इस व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय है। क्षात्र-धर्म एकान्तिक नही है। उनका सम्बन्ध लोकरक्षा से है। पृ. ४३.

३) राजधर्म, आचार्यधर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म रह गया। पृ. ७४.

४) इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रखने के लिए क्षात्र-धर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसंघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है। पृ. १३०. ... ...आदि आदि।

जहाँ तक मनोविकारों का बौद्धिक विश्लेषण किया गया है, वह विषय का बोध वैज्ञानिक रीति से करवाता है। किन्तु ये सारा बौद्धिक विश्लेषण व्यावहारिक रूप में पारम्परिक भारतीय मान्यताओं (विशेष रूप से तुलसीदास की विचारधारानुरूप) के समर्थन के हेतु है। उनके लोकधर्म के सम्बन्ध में वाजपेयीजी लिखते हैं: "इस लोक-धर्म की दो विशाल बाहुएँ हैं। सत् की रक्षा और असत् का दलन। साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश। गीता में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का प्रयोजन बताया है। शुक्लजी इन दोनों पक्षों के पूरे हिमायती हैं। - मानवजीवन का सौन्दर्य इन उभय पक्षों के पूर्ण परिपालन में ही है; किन्तु साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि रामचरितमानस के लोक-धर्म की नींव एकमात्र कर्तव्य-निष्ठा पर ही अवलंबित है। इसमें अधिकारों और कर्तव्यों का दोहरा पक्ष नहीं है... व्यक्ति की दृष्टि से यह पूर्ण त्यागमय धर्म है। दार्शनिक शब्दावली में इसे ही अनासक्त कर्म-योग कहते है। स्मरण रखना चाहिए कि यह पाश्चात्य व्यावहारिक दर्शन नहीं है जिसमें कुछ लेकर कुछ देना पडता है. यह है भारतीय कर्म-योग जिसमें व्यक्ति के लिए पूर्ण स्वार्थ-त्याग (सब कुछ देना) और सर्वस्व समर्पण ही धर्म कहलाता है।"[1] वाजपेयीजी ने शुक्लजी की विचारधारा के स्वरूप की ठीक मीमांसा की है। वाजपेयीजी एक ओर उनके (आचार्य शुक्ल के) लोकधर्म को स्पष्ट करते हैं तो दूसरी ओर उस विचारधारा की कमजोरी पर भी प्रकाश डालते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि शुक्ल जी का विरोध करते समय उनकी विश्वास-प्रणाली का विरोध करना पड़ता है। वाजपेयीजी शुक्लजी की विश्वास-प्रणाली की मूल भित्ति को काटते हैं। एक बार यदि इस भित्ति को स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर बौद्धिक रूप से शुक्ल का विरोध संभव नहीं। शुक्लजी का विरोध करनेवाले शुक्लजी की शक्ति को पहचानते है। डॉ. नगेन्द्र, डॉ. शिवदानसिंह चौहान एवं डॉ. देवराज या वाजपेयीजी सभी शुक्लजी से सहमत न होते हुए भी उनकी शक्ति को पहचानते हैं। शुक्लजी का विरोध उनकी विचारधारा (उनके दृढ़ विश्वासों से सम्बद्ध)

१ – हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी-नंददुलारे वाजपेयी-पृ. ७२-७३।

ं। वाजपेयीजीने उनकी (शुक्लकी) विचारधारा का
ए लिखा है।

"स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल मे भी है और निवृत्ति के मूल मे भी। दोनों का आधार एक ही है किन्तु शुक्लजी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म दोनो को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्लजी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्मशास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।"[१]

"सारा मध्यकालीन भक्ति-काव्य शुक्लजी द्वारा दो कटघरों में बद कर दिया गया है। उन्हें हम संक्षेप में व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म के कटघरे कह सकते हैं (ये उन्ही के शब्दे है) आश्चर्य है कि इस प्रकार का वर्गीकरण शुक्लजी ने किया है जब कि वास्तव में दोनो ही एक दूसरे से बहुत अशो तक अनुप्रेरित है और दार्शनिक विचारणा मे भी एक दूसरे के समकक्ष है। इसका नतीजा यह हुआ है कि शुक्लजी का वैष्णव साहित्य का अध्ययन परपराप्राप्त मान्यताओं के अनुकूल नही हुआ।"[२]

"शुक्लजीने राम-राज्य (सत्) और कलियुग (असत्) कहकर उन्हें विरोधी शिबिरो में स्थान दे दिया है। कोई भी आधुनिक समाजशास्त्री अथवा इतिहास का अध्येता इतनी आसानी से इस सारी सामग्री को किनारे नही लगा सकता, जिस आसानी से शुक्लजी ने उसे चलता कर दिया है। इन सब निदर्शनो से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ वह यह है कि शुक्लजी का विवेचन न तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण

---

[१] ...दी साहित्य . बीसवी शताब्दी-नंददुलारे वाजपेयी पृ. ७३
[२] ...ही पृ ७४

करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रवृत्त हुए हैं जो आज की आलोचना का आवश्यक अंग है।"[1]

इस तरह से आचार्य शुक्ल के अन्य विचारों का भी खंडन किया गया है। आचार्य शुक्ल की विचारधारा स्थूल और आदर्शवादी है। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का उपयोग उनकी विचारधारा मे हुआ है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अपनी स्थूल मान्यताओं को उन्होंने बौद्धिक आधार प्रदान किया। यही उनकी सब से बड़ी विशेषता है।

आचार्य शुक्ल और जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद की कामायनी मे मनोविकारों (चिंता, आशा श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, आदि) का विश्लेषण है। अतः मनोविकारों के अध्ययन मे आचार्य शुक्ल के साथ विषय के आधार पर जयशंकर प्रसाद की तुलना की जा सकती है। कामायनी के सर्गों के नामकरण प्रायः मानसिक वृत्तियों के आधार पर ही किए गए है। एक प्रकार से कवि ने मानव जीवन की प्रवृत्तियों का (मनोविकारों के आधार पर) क्रम दिखाने का प्रयास किया है। इस क्रम मे चिंता को प्रथम स्थान दिया गया है और आनंद को अंतिम। इस अथ और इति के बीच कथा के आधार पर (मनु, मन के प्रतीक रूप मे) मानव प्रकृति का विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण को (मन के विश्लेषण को) मनोवैज्ञानिक कहा गया है। कामायनी की समीक्षा यहाँ नहीं करनी है। कहना यह है कि 'मनोविश्लेषण' में (मनु पात्र के विश्लेषण में) प्रसाद को सफलता मिली है। श्रद्धा को आदर्श का रूप देने के कारण और विशेष रूप से कामायनी के अंत में उसी के द्वारा (श्रद्धा के द्वारा), मनु की समस्याओं का निदान (इस नाते मानवीय समस्याओं का निदान, आनंदवाद के आधार पर) प्रस्तुत करने के कारण श्रद्धा मानवी होते हुए भी देवी हो गई है और मनोविश्लेषण की दृष्टि से उसका चरित्र स्वाभाविक नहीं रह पाया है। मनु कमजोर होने पर भी कामायनी का सशक्त पात्र है और मानव प्रकृति की (मनोविश्लेषण के आधार पर) पहचान कराने मे समर्थ है। आचार्य शुक्ल जहाँ तक मनोविकारों का विषयानुरूप विवेचन करते है; विषय का बौद्धिक

---

१. हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी–नंददुलारे वाजपेयी पृ. ७७

रूप प्रदान करते हैं। अपने मतवाद या सिद्धांत को (पूर्ण स्वार्थ त्याग और सर्वस्व समर्पण, लोकधर्म आदि को) जब तक वे बीच में आने नहीं देते तब तक उनका मनोविकारों का विश्लेषण वैज्ञानिक है और ग्राह्य हैं। इसी तरह कामायनी में मनु (सबसे कमजोर पात्र होने पर भी) मनोविश्लेषण की दृष्टि से मानव प्रकृति के अधिक निकट होने के नाते ग्राह्य हैं। कामायनी की सफलता इसी में है कि मनु की समस्या (मानव-प्रकृति की समस्या) को मनो-विश्लेषण के आधार पर-मनोविकार के सदर्भ मे-चरित्र मूलक ढग से प्रस्तुत कर दी गई। कामायनी की असफलता, समस्या के निदान की असफलता है या सिद्धांतो की असफलता है। कवि के रूप प्रसाद सफल हैं। दार्शनिक के रूप मे विवाद है। कामायनी का पूर्वार्ध कवि प्रसाद (लज्जा सर्ग तक) का व्यक्त रूप है और उत्तरार्ध विचारक या दार्शनिक प्रसाद का। कवि रूप मे कवि सफल है और विचारक या दार्शनिक रूप मे असफल। डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने कामायनी से कामायनी की पहचान करते हुए कामायनी को एक असफल कृति घोषित किया है। (आलोचना ४४, अक्तूबर-दिसम्बर १९६८ ई.) । असाधारण असफलता को वे साधारण सफलता से बेहतर कहते हैं। विषय की ओर आते हुए और विशेष रूप से मनोविकारों के सम्बन्ध में दोनों के (जयशंकर प्रसाद और आचार्य शुक्ल के) दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि जयशंकरप्रसाद ने मनोविश्लेषण (मनु का) करते समय, मनोविकारों का सहज रूप -मानव-प्रकृति के अनुसार- काव्यमय पद्धति से उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते समय अपूर्व सफलता प्राप्त की। गजानन माधव मुक्तिबोध को भी इस सफलता पर आपत्ति नहीं है।[1] आचार्य शुक्ल की सफलता इसके विपरीत मनोविकारों को (उनकी मान्यताओं एव उनके व्यक्तिरूप से हटकर) बौद्धिक आधार देने के नाते मिली है। जयशंकरप्रसाद और आचार्य शुक्ल का क्रम अपना अपना है। जयशंकरप्रसाद मे मनोविकारों को (व्यक्ति समस्या के रूप मे) व्यक्ति के नाते प्रधानता प्राप्त हुई है। इस पर काव्य एव निबन्धो का (साहित्य रूपों का) अन्तर सुस्पष्ट है। क्रम की दृष्टि से विचार करें तो व्यक्ति रूप में,

---

१. 'सच तो यह है कि प्रसादजी की विश्लेषणात्मक सूक्ष्म दृष्टि जो काव्य उपस्थित करती है, वह काव्य निःसन्देह, हमें अभिभूत कर देता है। प्रसादजी शक्तिशाली कवि है, यह निःसन्देह है।'
—कामायनी : एक पुनर्विचार—गजानन माधव मुक्तिबोध—पृष्ठ १८६ (अन्ततःसे)

चिन्ता को प्रथम स्थान दिया गया है और आनन्द को अन्तिम । इसी तरह सामाजिक रूप में उत्साह को प्रथम स्थान मिलना चाहिए और क्रोध को अन्तिम । आचार्य शुक्ल ने निबन्धों में जो क्रम रखा है उसका विश्लेषण सामाजिक धरातल पर किया जा सकता है । (१) उत्साह, (२) श्रद्धा-भक्ति (३) करुणा, (४) लज्जा और ग्लानि, (५) लोभ और प्रीति, (६) घृणा (७) ईर्ष्या, (८) भय और (९) क्रोध, ध्यान से यदि इस क्रम को पहचानने का प्रयास करें तो ज्ञात होगा कि समाज की स्थिति-रक्षा के लिए जिन मनोविकारों को प्रधानता मिलनी चाहिए उनको शुक्लजी ने पहले स्थान दिया है । उत्साह (कर्मण्य बनने के लिये), श्रद्धा-भक्ति (कर्मण्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति होना समाज के मंगल के लिए वांछनीय होने के नाते), करुणा (दूसरों के दुख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक होने के नाते एवं शील और सात्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार होने के नाते), लज्जा और ग्लानि (बुराई से बचनेवाले मनोविकार, सात्त्विक वृत्तिवालों के लिए ग्लानि और राजसी वृत्तिवालों के लिए लज्जा), लोभ और प्रीति (इनके विस्तृत शासन के भीतर आनन्दात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं .. मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृंगार को रसराज कहा है, इस नाते) इनके आगे जो मनोविकार है उनकी स्थिति भिन्न है । घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध ये सभी मनोविकार वांछनीय तो नहीं हैं किन्तु इनसे मुक्ति संभव नहीं । अतः इनसे निवृत्त होना है । घृणा (शिक्षाद्वारा प्राप्त आदर्शों के प्रतिकूल अरुचिकर विषयों को ज्ञानपथ से दूर रखने के लिये), ईर्ष्या (सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न विष होने के नाते), भय (दुःखात्मक होने के लिए, क्षात्रधर्म के सहारे निर्भय होने के नाते) और अन्त में क्रोध (शान्ति भंग करनेवाला मनोविकार होने के नाते) आए हैं । इस क्रम के आधार पर एक चित्र बनाया जा सकता है । वह इस प्रकार है :—

मनोविकारों का चित्र

प्रवृत्ति (आनंदात्मक)	प्रवृत्ति-निवृत्ति	निवृत्ति (दुःखात्मक)
उत्साह	लो	.... घृणा
श्रद्धा-भक्ति	भ	.... ईर्ष्या
करुणा	और	.... भय
लज्जा और ग्लानि	प्री	.... क्रोध
	ति	

लोभ या प्रेम की सब से बडी विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबंध समाप्त करते है । यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी, जिसके व्यजक दीर्घ नि श्वास और अश्रु भी होते है तथा हर्षपुलक और उछल-कूद भी । इसके विस्तृत शासन के भीतर आनंदात्मक और दु खात्मक दोनो प्रकार के मनोविकार आ जाते है । साहित्य के आचार्यों ने इसी से श्रृगार के दो पक्ष कर दिए है । सयोगपक्ष और वियोगपक्ष। कोई और भाव ऐसा नही है जो आलम्बन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियां और चेष्टाए उत्पन्न करे और न रहने पर बिलकुल दूसरे प्रकार की । कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का-सा स्थायित्व प्राप्त करते है — जैसे क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या बैर का रूप धारण करता है और जुगुप्सा घृणा या विरक्ति का—पर यह विशेषता और किसी मे नहीं पाई जाती । मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगो ने श्रृगार को रसराज कहा है ।" (पृ ९६)

यह चित्र आचार्य शुक्ल के क्रम के अनुसार है। इस क्रम मे मनोविकारों को सामाजिक सदर्भ में देखा गया है। यह स्पष्ट है । साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो गई कि रसराज क्यों श्रृगार ही को कहा गया । अद्भुत और हास्य दोनो नही आ पाए है । सच तो यह है कि अद्भुत और हास्य (रस सिद्धान्त के लिए आवश्यक है) मनोविकारो को भी स्थान मिलना चाहिए था । इन पर भी स्वतत्र निबंध लिखे जा सकते थे । संभवत इन का सम्बध विलक्षणता आश्चर्य, जिज्ञासा, कुतुहल वैचित्र्य आदि से होने के कारण और विशेष रूप से बाह्य आलम्बन पर निर्भर रहने के कारण ये मनोविकार आवश्यक न माने गए हो । जिन मनोविकारो का विश्लेषण किया गया है वे सामाजिक सदर्भ मे मन की व्यवस्था (प्रवृत्ति-निवृत्ति) बतलाते है ।

आचार्य शुक्ल और बर्ट्रैण्ड रसेल

आचार्य शुक्ल समाज की स्थिति-रक्षा चाहते है । व्यक्ति को उन्होने समाज के सदर्भ मे देखा है । अत: उनके सामाजिक विचारो को परखा जा सकता है । जैसे आचार्य शुक्ल समाज का हित चाहते हैं, वैसे ही विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक एवं विचारक बर्ट्रैण्ड रसेल भी समाज का हित चाहते हैं । विश्व-शाति के लिए बर्ट्रैण्ड रसेल के प्रयत्न ख्यात है । अत समाज के मगल की

कामना के हेतु मनोविकारों के सम्बन्ध में दोनों के विचारों की तुलना करते हुए, उनके समाज दर्शन (दार्शनिक) को स्पष्ट किया जा सकता है। ईर्ष्या, लोकमत का भय, उत्साह, स्नेह आदि निबन्ध रसेल ने भी मनोविकारों पर लिखे है। ये निबन्ध ऐसे हैं जो शुक्लजी द्वारा भी लिखे गए हैं। रसेल ने अपनी पुस्तक में दो खण्ड किए हैं। खण्ड १ में दुःख के कारण से सम्बन्धित (लोग दुःखी क्यों रहते है, नियति-गत-दुःख, प्रतियोगिता, ऊब और उत्तेजना, थकान, ईर्ष्या, पाप की भावना, उत्पीड़न-उन्माद, लोकमत का भय) निबंध लिखे गए है और खण्ड २ में सुख के कारणों से सम्बन्धित (क्या सुख अभी संभव है, उत्साह, स्नेह, परिवार, काम, निर्वैयक्तिक कामना, प्रयत्न और सुखी मानव) निबंध हैं। सुख की साधना में मनोविकारों का परिष्कार आवश्यक है। रसेल का यह पुस्तक आचार्य शुक्ल के समान (मनोविकारों से सम्बन्धित होने पर भी) बौद्धिक एवं पांडित्यपूर्ण नहीं है। रसेल इस पुस्तक के निवेदन में बुद्धि की यात्रा का उल्लेख नहीं करते। रसेल लिखते हैं — "यह पुस्तक विद्वानों के लिए नहीं लिखी गई है और न ही उन लोगों के लिए जो किसी व्यावहारिक समस्या को मात्र वादविवाद का विषय समझते हैं। उसमें कोई गंभीर दर्शन और विद्वता भी नहीं मिलेगी। मैंने केवल ऐसे सुझाव देने का प्रयत्न किया है जिन्हे मेरे विचार से सामान्य बुद्धि से प्रेरणा मिली है। मैंने इस पुस्तक में जो युक्तियाँ बताई है उनके बारे में इतना ही कह सकता हूँ कि वे मेरे अपने अनुभव और निरीक्षण की कसौटी पर खरी उतर सकी हैं। और जब भी मैंने उन पर अमल किया है, मेरे जीवन में सुख की वृद्धि हुई है। इसलिए मुझे आशा है कि जो लोग दुःख में आनंद का अनुभव किए बिना दुःख झेलते रहते हैं उनमें से कुछ इस पुस्तक की सहायता से अपने दुःख के कारणों को समझ सकेंगे और इस दशा से निकलने का रास्ता भी उन्हें मिल सकेगा। मेरा विश्वास है कि बहुत से लोग जो दुःखी है, सुनिर्दिष्ट प्रयास के द्वारा सुख की प्राप्ति में सफल हो सकते है और इसी विश्वास से प्रेरित होकर मैंने यह पुस्तक लिखी है।"[1] पुस्तक लिखने के उद्देश्यों में अन्तर है। रसेल की पुस्तक में उपदेश नहीं, सुझाव है। आचार्य शुक्ल का दमकता विश्वास (अपने आग्रहों के साथ) रसेल की पुस्तक में नहीं है। ईर्ष्या पर दोनों ही के निबन्धों से नीचे उदाहरण दिए जा रहे है :—

---

१. सुख की साधना—बर्ट्रेण्ड रसेल—(अनुवादक ख्वाजा बदीउज्जमा) —आमुख से।

बर्ट्रेण्ड रसेल के अनुसार

" वास्तव में ईर्ष्या एक प्रकार का दुर्गुण है जो कुछ नैतिक भी है और कुछ बौद्धिक भी। वस्तुओं को अपने-आप में न देखना और सदा ही उन्हें उनकी सापेक्षता में देखना इसकी विशेषता है ..... निस्संदेह ईर्ष्या का प्रतियोगिता से गहरा संबंध है . .. .. आधुनिक संसार में सामाजिक स्तर की अस्थिरता और लोकतंत्र तथा समाजवाद के समानतामूलक सिद्धांतों ने ईर्ष्या के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। इस समय तो यह अनिष्ट है परंतु यह ऐसा अनिष्ट है जिसे अधिक न्यायसंगत समाज व्यवस्था तक पहुँचने के लिए सहन करना आवश्यक है।"[1]

आचार्य शुक्ल के अनुसार

' ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी सम्प्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है ...... ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है . न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंटें जोड़ता है। समाज कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हम से छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है, और संघ-शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है। यदि समाज में उन कार्यों की जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणी जीवन-निर्वाह करते हैं परस्पर छोटाई-बड़ाई का ढिंढोरा न पीटा जाय, बल्कि उनकी विभिन्नता ही स्वीकार की जाय, तो बहुत-सा असंतोष दूर हो जाय, राजनीतिक स्वत्व की आकांक्षा से स्त्रियों को पुरुषों की हद में न जाना पड़े, सब पढ़े-लिखे आदमियों को नौकरियों ही के पीछे न दौड़ना पड़े ....। (पृ. १०७, ११०, ११३ और ११४।)

दोनों विद्वानों के इन कथनों की तुलना की जा सकती है। ईर्ष्या के दुर्गुणों से दोनों ही परिचित हैं और उसकी नैतिक एवं बौद्धिक स्थिति को दोनों ही जानते हैं। अन्तर समाज के प्रति पाए जानेवाले दृष्टिकोण का है। रसेल के पूरे निबंध में ईर्ष्या को व्यक्ति के संदर्भ में, दुख का कारण मानकर उसका विवेचन किया गया है। रसेल ईर्ष्या का विकास होने के कारणों से परिचित

---

१. सुख की साधना-बर्ट्रेण्ड रसेल- (अनुवादक : ख्वाजा बदीउज्जमा) -पृ. ७०-७१-७२।

है किन्तु इस परिचय को यथार्थ रूप में स्वीकार करते हुए उनका कहना यह है कि लोकतंत्र और समानतामूलक सिद्धांतों के कारण ईर्ष्या का क्षेत्र विस्तृत हो गया। यह अनिष्ट होने पर भी समाज की भलाई के लिए, न्यायसंगत व्यवस्था के लिए तथा व्यक्ति के सुख में वृद्धि करने के लिए, इसे सहन करना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल इसके विपरीत सामाजिक स्थिति में परिवर्तन नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि छोटाई-बड़ाई का हिसाब न मिटाकर, इनकी (समाज में पाए जानेवाले विभिन्न वर्गों की) विभिन्नता स्वीकार कर लेने से ईर्ष्या में कमी होगी। असंतोष की मात्रा घटेगी। स्त्रियों का पुरुषों की हद में जाना शुक्लजी को स्वीकार नहीं है। सामाजिक दृष्टि से आचार्य शुक्ल के विचार पुराने प्रतीत होते हैं जब कि रसेल के विचारों में आधुनिकता है। यह होने पर भी आचार्य शुक्ल ने अपने पुराने विचारों को जो बौद्धिक आधार दिया है—व्यवस्था के प्रति यदि उनके विचार स्वीकार कर लिए जाते हैं—वह उनके सामाजिक अध्ययन को व्यक्त करनेवाला है। भारतीय समाज-व्यवस्था का (आचार्य शुक्ल के अपने समय में वर्तमान) बौद्धिक विश्लेषण, पूरे मनोयोग एवं अपूर्व विश्वास के साथ शायद ही किसी लेखक ने किया होगा। आचार्य शुक्ल के इन निबंधों में भारतीय मनोभूमि सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दमक उठी है।

सबल व्यक्तित्व

आचार्य शुक्ल के विचारों से परिचित होने पर अब उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जा सकता है। उनका व्यक्तित्व सबल है, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। शुक्लजी के व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने विचारों पर दृढ़ रहते हैं। अपने विचारों को दृढ़ता के साथ कहना जानते हैं और उन विचारों के लिए उनके पास पुष्ट बौद्धिक प्रमाण है। शुक्लजी का खण्डन करना हो तो उनके विचारों का खण्डन करना होगा। शुक्लजी का खण्डन बौद्धिक धरातल पर सम्भव नहीं। यदि आप उनके एक वाक्य को स्वीकार कर लेते हैं तो दूसरा वाक्य उसी वाक्य की शृंखला में होने के नाते स्वीकार करना होगा। काटना हो तो पहले वाक्य को काट दिया जाय, तब तो खण्डन हो सकता है। बीच में से काटना संभव नहीं। अपने निबन्धों में उन्होंने अपनी गंभीर मुद्रा को सदैव बनाए रखा है। परिहास और व्यंग्य भी करते चलते हैं किन्तु उन स्थलों पर भी उनकी गंभीरता झलकती रहती है। परिहास, भावुकता एवं व्यंग्य के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं

लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हे धिक्कार है !! " (पृ ८५) —परिहास

" रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनो पुरो का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश प्रेम की दुहाई देनेवालों मे से कितने अपने किसी थके-मादे भाई के फटे-पुराने कपडों और धूलभरे पैरो पर रीझकर, या कम से कम खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देगे ? मोटे आदमियो तुम जरा–सा दुबले हो जाते– अपने अदेशे से ही सही–तो न जाने कितनी ठठरियो पर मांस चढ़ जाता।" (पृ ७७)–भावुकता

" पर आजकल इस प्रकार का (देश का) परिचय बाबुओ के लिए लज्जा का विषय हो रहा है -- ...मै अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची स्तूप देखने गया ... -- वसन्त का समय था। महुए चारो ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला–महुओ की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, " यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे।" मै चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बडा भारी बट्टा लगता है।" (पृ. ७८-७९) —व्यंग्य

इस प्रकार के और भी उदाहरण मिल सकते है । ऐसे स्थलो पर भी उनकी बौद्धिक प्रभा विद्यमान रहती है । शुक्लजी का आनन्द ज्ञानानन्द है। भावयोग की महत्ता बतलाने के लिए उन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग किया है । मनोविकारो मे उनका व्यक्तित्व जिन मनोविकारो मे अधिक रमा है (उनके अपने व्यक्तित्व के अनुरूप उन्हे लगा है) उनसे सम्बन्धित निबन्धो में उन्होंने अधिक उदाहरण दिए हैं । उनकी बुद्धि की यात्रा मे हृदय जहाँ-जहाँ रमा है या उनके बुद्धि के श्रम का परिहार जहाँ-जहाँ हुआ है, वे स्थल उनके व्यक्तित्व के निकट के स्थल है। 'श्रद्धा-भक्ति' एव 'लोभ और प्रीति' दोनो निबन्ध सब से बडे है।)'श्रद्धा-भक्ति' २७ पृष्ठो का है और 'लोभ और प्रीति' २८ पृष्ठो का है), उदाहरणों की सख्या इन दोनो निबन्धों में ही अधिक है। इन वृत्तियों में शुक्लजी का मन अधिक रमा है। इन निबन्धो मे उनका हृदय खुलकर बाहर आया है । 'ईर्ष्या' निबन्ध–उदाहरणों से रहित होने पर भी–

व्यंग्यपूर्ण होते हुए भी बुद्धि प्रधान हैं। यह कहा जा सकता है कि 'लोभ और प्रीति,' 'श्रद्धा-भक्ति,' 'करुणा,' 'उत्साह' एवं 'लज्जा और ग्लानि' निबन्धों में शुक्ल जी व्यक्ति–प्रधान हो गए हैं (अपेक्षाकृत) और 'घृणा,' 'ईर्ष्या,' 'भय और 'क्रोध' में विषय प्रधान (अपेक्षाकृत)।

उपसंहार

अब अन्त मे विषय का समाहार करते हुए यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के मनोविकारों से सम्बन्धित लिखे गए ये निबन्ध मनोविज्ञान या समाज-मनोविज्ञान से सम्बन्धित निबन्ध नहीं हैं। इनमें मनोविश्लेषण (मनोवैज्ञानिक अर्थ में) नहीं किया गया है। इस तुलना में कामायनी में (मनु के चरित्र में) मनोविश्लेषण हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः ये निबन्ध व्यक्ति-व्यक्ति, एवं व्यक्ति-समूह के सम्बन्ध को समाज-मनोविज्ञान (Social Psychology) के रूप में प्रस्तुत करनेवाले निबन्ध हैं। यहाँ भी यह समाज विशेष सांस्कृतिक मूल्यों से युक्त है। अतः जिस विशेष समाज (तुलसी मानस की विचारधारानुरूप) के आदर्श को लेकर ये निबन्ध लिखे गए हैं, उसका विश्लेषण वैज्ञानिक, नैतिक एवं बौद्धिक (नैश्चयिक दृष्टि से) है। अपनी स्थूल सामाजिक मान्यताओं को मनोविकारों का विश्लेषण करते हुए तथा अपने पाण्डित्य का पूरा-पूरा उपयोग करते हुए आचार्य शुक्ल ने विषय को गंभीर स्वरूप दिया है। रसानुभूति के उद्घाटन में मनोविकारों की स्थिति को स्पष्ट किया गया है। रससिद्धान्त का इन निबन्धों ने मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी है। हिन्दी के मौलिक आचार्यों में शुक्लजी का स्थान अपनी जगह कायम है। शुक्लजी को आउट ऑफ डेट माननेवाले भी ये जानते हैं कि हिन्दी में गंभीर चिन्तन उन्हीं से शुरु हुआ है। उनके विचार आउट ऑफ डेट हो सकते हैं किन्तु मौलिकता और प्रतिभा आउट ऑफ डेट नहीं होती। उनके चिन्तन में मौलिकता है और इस चिन्तन की मौलिकता के कारण हिन्दी को उन पर सदैव गर्व रहेगा।

२. कविता : प्रयोजन और आवश्यकता



२. कविता : प्रयोजन और आवश्यकता

‘ कविता क्या है ? ’ आचार्य रामचद्र शुक्ल द्वारा लिखा गया एक स्वतत्र निबंध है। निबध का शीर्षक एकदम स्पष्ट है। स्पष्ट यह है कि शुक्लजी इस निबध मे - ‘कविता क्या है ?’ यदि उनसे पूछा जाय तो वे उसका उत्तर सीधे, जिस रूप में देना चाहेगें, वही उत्तर इस निबध में है। लगभग ४६ पृष्ठों (चिंतामणि, भाग १, १९६२ वाला संस्करण) मे यह निबध लिखा गया है, इस पर भी कविता की स्पष्ट परिभाषा उन्होंने दी है,इस संबध मे प्रश्न उपस्थित किया गया है । डॉ. बच्चनसिंह ने लिखा है । “स्वभावत: प्रश्न उठता है कि शुक्लजी ने काव्य को परिभाषित क्यों नही किया ? किसी भी पुरानी परिभाषा को स्वीकार करने के बाद उन्हे एक सीमा मे बध जाना पडता और नये अर्थापन की छूट नही मिल पाती। दूसरी बात यह कि स्वय काव्य क्या है, इसे विवेचित करना उनका लक्ष्य नही था । उनका लक्ष्य था

कि काव्य का लक्ष्य क्या है ? वे काव्य की प्रकृति का विवेचन न करके काव्य के प्रयोजन का विवेचन करते हैं। उनकी आलोचना में अपूर्व स्पष्टता, गंभीरता, विश्लेपण–क्षमता दिखाई देती है, उसमें मर्मग्राहिता भी है पर उसे संश्लिष्ट आलोचना नहीं कह सकते।"[1] डॉ. बच्चनसिंह के इस कथन में तथ्य की बात है और इस कथन को नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति की बुनियादी खामियां बतलाते हुए उनका निरूपण किया है और इसी संदर्भ में कविता संबंधी शुक्ल की मान्यताओं का विवेचन किया है। सच तो यह है कि शुक्लजी ने 'कविता क्या है ?' प्रश्न का उत्तर दिया है। उनका यह उत्तर विस्तृत है। दो चार पंक्तियों में कविता को परिभाषित कर देना और कविता के प्रतिमान कविता के भीतर खोजना उन्होंने उचित नहीं समझा। 'कविता क्या है ?' का उत्तर इतने विस्तृत रूप में दिया गया है कि कविता संबंधी पारंपारिक एवं प्रचलित मान्यताओं पर उन्होंने खुलकर अपने विचार व्यक्त किए हैं। कोई उन विचारों से सहमत हो या न हो, उनके विचार उनके अपने हैं। और एकदम स्पष्ट हैं। यहां शुक्लजी की कविता संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। इस निबंध में उनकी मौलिक उद्भावनाएं भी हैं। उनकी ये मौलिक उद्भावनाएं अब तक पहचान ली गई हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। नीचे कविता संबंधी शुक्लजी की मान्यताओं का विवेचन प्रस्तुत करते हुए, उनकी (इस संबंध में) मौलिक उद्भावनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। यह सारा विवेचन शुक्लजी के एक मात्र निबंध 'कविता क्या है ?' के आधार पर किया जा रहा है।

२

आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है ?' निबंध को उपशीर्षकों में विभाजित किया है उनके ये उपशीर्षक निम्न रूप में मिलते हैं।

१) सभ्यता के आवरण और कविता।
२) कविता और सृष्टि-प्रसार।
३) मार्मिक तथ्य।
४) काव्य और व्यवहार।
५) मनुष्यता की उच्च–भूमि।
६) भावना या कल्पना।
७) मनोरञ्जन।

---

१. कल्पना, फरवरी १९७१, पृ. ४.

८) सौंदय ।
९) चमत्कारवाद ।
१०) कविता की भाषा ।
११) अलंकार ।
१२) कविता पर अत्याचार । और
१३) कविता की आवश्यकता ।

इन शीर्षकों में एक क्रम है । आदि से अन्त तक शुक्लजी को इस बात का ध्यान रहा है कि वे – 'कविता क्या है' ? का उत्तर लिख रहे है । विषय की लीक पर चलते हुए गभीर विषय को छोटे-छोटे उपशीर्षक बनाकर कविता के सदर्भ मे ही आचार्य शुक्ल ने यह सारा विवेचन किया है ।

३

निबन्धकार की एक बडी विशेषता यह होनी चाहिए कि जिस विषय पर भी निबन्ध लिखा जाय, उस विषय का समग्र बोध उसके मस्तिष्क में स्पष्ट हो और प्रथम पक्ति के लिखने से लेकर अन्तिम पंक्ति तक एकरूपता –विचारों में, तदनुसार विश्लेषण में एकरूपता – बनी रह सके । शुक्लजी के इस निबन्ध मे (अन्य निबन्धो मे भी है) यह विशेषता पाई जाती है । वैसे तो निबन्ध का प्रथम अनुच्छेद निबन्ध मे सब से महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद है । " मनुष्य अपने भावो ... उसे कविता कहते है ।" आचार्य शुक्ल की यह महत्त्वपूर्ण स्थापना है । सच्चाई यह है कि 'कविता क्या है '? का उत्तर इन पक्तियों में दे दिया गया है । यदि शुक्लजी इतना कहकर रुक जाते तब भी काम चल जाता । इस अनुच्छेद के बाद मे लिखा गया सारा निबन्ध इसी अनुच्छेद को पुष्ट करने के लिए ही है । प्रथमतः उनके इस प्रथम अनुच्छेद का विश्लेषण किया जाय और अनन्तर उनके बाद के विवेचन पर विचार किया जा सकता है ।

४

अपने प्रथम वाक्य मे शुक्लजी ने 'जीना ' की परिभाषा दी है । इसी तरह दूसरे वाक्य मे 'जगत ' का परिभाषा दी है । इसके बाद 'बद्ध–हृदय' एव 'मुक्त–हृदय' को समझाया गया है । इसे समझने के लिए इस तरह लिखा जा सकता है :–

जीना :– मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिये दिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारो साथ को कही मिलता

और कहीं लटाता हुआ अनन्त तक चलता है और इसी को जीना कहते हैं। (पृ. १४१)

जगत – जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यापार (जिसे ऊपर परिभाषित किया है) चलता रहता है। उसका नाम है जगत्। (पृ. १४१)

बद्ध-हृदय – जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस शेष से नाना रूपों और व्यापारों को अपने योगक्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से संबद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। (पृ. १४१) (इस वाक्य में 'इस शेष' का तात्पर्य जगत् से है, जिसे ऊपर परिभाषित किया गया है।)

मुक्त-हृदय – इन रूपों और व्यापारों (जगत् के) के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर – अपने आपको बिलकुल भूलकर – विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। (पृ. १४१)

इसके बाद आचार्य शुक्ल ने 'ज्ञानदशा' और 'रसदशा' को समझाया है। वह इस प्रकार है :—

ज्ञानदशा – आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है। (पृ. १४१)

रसदशा – हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। (पृ. १४१)

ज्ञानदशा को शुक्लजी ने रसदशा के समकक्ष माना है। इस सारी भूमिका के बाद कविता को परिभाषित किया है। परिभाषा इस प्रकार है :—

" हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" (पृ. १४१)

यह कहने के बाद (कविता को परिभाषित करने के बाद) विश्वास के साथ शुक्लजी अपनी मान्यता को भी अभिव्यक्त कर देते हैं। लिखा है :—

" इस साधना को (कविता की साधना को) हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।" (पृ. १४१)

५

आचार्य शुक्ल ने निबंध के इस प्रथम अनुच्छेद में ही 'जीना', 'जगत्' 'बद्ध-हृदय', 'मुक्त-हृदय', 'ज्ञानदशा', 'रसदशा' आदि शब्दों का विशेष

अर्थ मे प्रयोग किया है और कविता को हृदय की मुक्ति का साधन माना है। कविता मनुष्य की वाणी है अवश्य पर वही वाणी जो हृदय की मुक्ति का साधन है, वही कविता है। (वाणी के साथ 'शब्द-विधान' शब्द जुड़ा हुआ है, यह अवलोकनीय है।) आचार्य शुक्ल की कविता के सम्बध मे यह स्थापना अपने आप मे पूर्ण है और निबन्ध के अन्त तक वे अपनी इस स्थापना पर दृढ है। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि शुक्लजी की यह स्थापना मौलिक है, उनकी अपनी है। इसे हम उनकी उद्भावना कह सकते है। शुक्लजी से मतभेद रखने वालो को उनकी इस स्थापना से मतभेद रखना चाहिए और यही पर इस स्थापना का खडन करना चाहिए। यदि हम एक बार उनकी इस स्थापना को स्वीकार कर लेते है तो आगे उनका खडन करना बहुत कठिन है। इस प्रथम अनुच्छेद के बाद आगे लिखा हुआ सारा निबध इस स्थापना को दृढ करने के लिए है। अपने इसी प्रथम अनुच्छेद के अन्तिम वाक्य मे वे कहते है। 'इस साधना को हम भावयोग कहते है और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते है।' यहाँ जिस साधना की बात कही गई है, वह कविता की साधना है। कविता की साधना हृदय की मुक्ति के लिए है। हृदय की मुक्ति लक्ष्य है, यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते है।

आचार्य शुक्ल ने इस अनुच्छेद के बाद मे कविता को परिभाषित नही किया। किया है, तो यही किया है और यहाँ भी लक्ष्य रूप मे किया है। इसे वे भावयोग कहते है (कविता की साधना को) और ज्ञानयोग और कर्मयोग के समकक्ष मानते है। भावयोग, कर्मयोग एव ज्ञानयोग ये शब्द प्राचीन प्रतीत होते है, गीता से सबधित जान पड़ते है। आचार्य शुक्ल इन शब्दो का प्रयोग कविता की साधना को समझाने के लिए करते है।

कविता की साधना = भावयोग = कर्मयोग = ज्ञानयोग।

६

'कविता क्या है ?' निबध के इस प्रथम अनुच्छेद के सबध मे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि १९०९ ई मे जब यह निबध प्रथमत लिखा गया उस समय यह प्रथम अनुच्छेद निबध में नही था। सरस्वती मे शुक्लजी का यह निबध इसी शीर्षक से (कविता क्या है ?) १९०९ ई में प्रकाशित हुआ। इसके बाद ३० वर्षों के मनन-चिंतन के उपरात-शीर्षक वही रखते हुए-इसी को, बृहत् रूप देकर चितामणि भाग १ में, १९३९ ई. मे प्रकाशित

किया गया इन दोनों को (१९०० तथा १९२९ ई. वाले निबन्धों को) यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो उससे आचार्य शुक्ल की विचार पद्धति का ही नहीं उनके बौद्धिक विकास का भी ज्ञान होता है। १९०९ ई. में लिखे गए इस निबंध का प्रथम अनुच्छेद इस प्रकार है। :–

> "कविता से मनुष्य–भाव की रक्षा होती है। सृष्टि के पदार्थ और व्यापार–विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करती है मानो वे पदार्थ या व्यापार–विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते है। उनकी उत्तमता का विवेचन करने में बुद्धि से काम लेने की जरूरत ही नहीं पड़ती। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों (इन्हीं मनोवेगों का नाम अलंकारशास्त्र में रस रखा गया है।) के प्रवाह जोर से बहने लगते है। तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है। यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अन्तःकरण से निकल जाए तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वासित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है, हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर मोहित होने लगते है; कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है। हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है।"[1]

चिन्तामणि प्रथम भाग में प्रकाशित निबन्ध में यह अनुच्छेद नहीं है। १९०९ ई. में प्रकाशित इस निबन्ध में भी 'कविता क्या है ?' मुख्य शीर्षक के अतिरिक्त अन्य उपशीर्षक भी है। ये उपशीर्षक निम्न रूप में हैं :–

१) कार्य्य में प्रवृत्ति।
२) मनोरंजन और स्वभाव-संशोधन।
३) कविता की आवश्यकता।
४) सृष्टि और सौंदर्य।
५) कविता की भाषा।
६) श्रुतिसुखदता। और
७) अलंकार।

---

1. सरस्वती–हीरक जयंती, विशेषांक, (१९००–१९५९ ई.) पृ. ४८९–४९०

इन शीर्षकों का और बाद में संशोधित निबन्ध में दिए गए शीर्षकों दोनों को मिलाकर तुलनात्मक दृष्टि से नीचे विचार किया जा रहा है। इससे पूर्व कहना यह है कि १९०९ ई. में प्रकाशित निबंध में दिया गया प्रथम अनुच्छेद (ऊपर उद्धृत) १९३९ ई. में शुक्लजी ने हटा ही दिया। वह उन्हें उचित नहीं लगा। इस समय उन्होंने नया अनुच्छेद लिख डाला और यह प्रथम अनुच्छेद निबन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रभाव बाद के पूरे निबंध में है और इसी अनुच्छेद की व्याख्या विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में शुक्लजी करते चलते हैं।

७

बाद के अनुच्छेदों को समझने के लिए उपशीर्षकों के क्रम से विवेचन किया जा रहा है। इसमें भी १९०९ ई. में प्रकाशित उपशीर्षकों का क्रम पहले रखा जा रहा है और बाद में १९३९ ई. के (चिंतामणि प्रथम भाग के) क्रम का विवेचन किया जायगा। इस विवेचन में दोनों की तुलना एवं उद्भावनाओं का उद्घाटन भी किया जा रहा है।

८

१. **कार्य में प्रवृत्ति** संशोधित निबंध में यह शीर्षक नहीं है। ध्यान से देखनेपर पता चलता है कि इस शीर्षक के अन्तर्गत दिए गए उदाहरणों के समान दूसरे उदाहरण संशोधित निबंध में हैं और इन उदाहरणों के माध्यम से शुक्लजी यह कहते जान पड़ते हैं कि अर्थग्रहण और बिंबग्रहण में अंतर क्या है ? यों कहना चाहिए कि ' काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। ' यह विधान बाद में बना है। इस विधान की भूमिका (आरंभिक विचार) इस शीर्षक के अन्तर्गत है। शुक्लजी ने यहाँ जो उदाहरण दिए हैं, वे इस प्रकार है :—

> " यदि किसी से कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है, इसीसे तुम्हारे यहाँ अकाल दारिद्र्य बना रहता है , तो संभव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जरे (जले) हुए प्राणियों के अस्थिपंजर सामने पेश किए जाएं और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्तस्वर सुनाया जाय तो वह मनुष्य क्रोध और करुणा से विह्वल हो उठेगा और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेगा। पहले प्रकार की बात कहना राजनीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य

दिखाना कवि का कर्तव्य है। मानव हृदय पर दोनों में से किस पर अधिकार हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं"।[1]

यह सोचने की बात है कि कार्य में प्रवृत्ति कविता के कारण होती है, ऐसा शुक्लजी मानते हैं। उनका यह मत १९०९ ई. में था और १९३९ ई. में भी इसमें कोई अन्तर नहीं आया किन्तु १९३९ ई. में उन्होंने अपने को संशोधित एवं तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार उन्होंने इस प्रश्न का विवेचन–'सभ्यता के आवरण और कविता' शीर्षक के अन्तर्गत किया। विशेष रूप से उदाहरणों को छोड़कर सिद्धान्तों या व्याख्याओं पर विचार करें तो निम्नलिखित अन्तर दिखलाई देगा।

१९०९ ई

'कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जो हमें आह्लाद, क्रोध और करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य में प्रवृत्ति के लिए मन में वेग का आना आवश्यक है"।[2]

१९३९ ई.

भावों के विषय

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। (पृ– १४३)

कवि कर्म

पर यह प्रच्छन्न रूप (सभ्यता के आवरण के कारण या भावों के मूल विषयों को आवृत कर लेने के कारण) वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता इसी से इसके प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि–कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा। (पृ १४४)

---

१. सरस्वती—हीरक जयंती, विशेषांक, (१९००–१९५९ ई.) पृ. ४९०.
२. वही पृ. ४९०.

काव्य का ढाँचा :

सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलो पर हमें भावों के विषयो के मूल और आदिम रूपो तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर न होंगे। जब तक भावो से सीधा और पुराना लगाव रखनेवाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। (पृ. १४५)

अर्थग्रहण और बिंबग्रहण :

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का हो सकता है। (पृ १४५.)

हम देखते है कि १९०९ ई. वाला अंश १९३९ ई. वाले अंश की तरह प्रौढ नही है। दोनो अंशों मे विचारधारा मे अन्तर इसलिए नही कि ' कार्य्य मे प्रवृत्ति ' कविता के कारण होती है, इस प्रवृत्ति के लिए मन में वेग आना जरूरी है, ऐसा शुक्लजी का पहले विश्वास हो गया था। १९०९ ई. मे उन्होंने अपने इस कथन को विश्वास एवं भावुकता के साथ कहा है। १९३९ ई. मे परिवर्तन यह हुआ कि ' मन के वेग ' के लिए ' भाव ' शब्द का प्रयोग हुआ। भाव के साथ साथ फिर भावो के विषय को स्पष्ट किया गया और विषयों मे भी मूल विषय की खोज हुई। पता चला कि सभ्यता के आवरण के कारण भावो के विषय प्रच्छन्न हो गए। प्रच्छन्न रूपों को हटाकर मूल विषय तक पहुँचना कविता का काम है या ये गुण कविता मे होना चाहिए। इसीलिए भावों के विषय के बाद मे ' **कवि कर्म** ' को शुक्लजी स्पष्ट करते हैं। इसी तरह ' **काव्य का ढाँचा** ' बतलाते है और तब अन्त मे अपनी महत्त्वपूर्ण स्थापना करते है ' **काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिंबग्रहण मात्र अपेक्षित होता है** ।' वास्तव में काव्य मे बिंबग्रहण को कहते समय शुक्लजी ' **भावों के मूल विषय** ' (सभ्यता के आवरण से मुक्त) को ही सैद्धांतिक रूप मे प्रस्तुत करते है। बिम्बग्रहण से भावों का

मूल विषय ही समझ में आता है। अर्थग्रहण से भी सरसता का बोध होता है।

२. मनोरंजन और स्वभाव-संशोधन : १९०९ ई. के इस शीर्षक में से शुक्लजी ने 'स्वभाव-संशोधन' शब्द हटा दिया। १९३९ ई. (चिंतामणि भाग १) वाले संस्करण में केवल 'मनोरंजन' शीर्षक मात्र रह गया है। १९०९ ई. में लिखे इस शीर्षक के प्रथम अनुच्छेद को उन्होंने हटा दिया है। यह उचित ही हुआ। इस अंश में भावुकता ही अधिक [illegible] है —स्वभाव-संशोधन इस भावुकता वाले अंश में है। कुछ पंक्तियाँ दी जा रही है :—

> "कविता ही उस दुकानदार को जगत् की प्रकृति भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि के सौंदर्य की ओर ले जायगी, कविता ही उसका ध्यान औरों की आवश्यकता की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी, कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान सिखलावेगी. इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिंब खींचकर रक्खेगी और उनकी [illegible] का आभास दिखलावेगी; तथा दैवी विपत्ति अथवा मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने की शिक्षा देगी।"[1]

इस अनुच्छेद के बाद लिखा हुआ अनुच्छेद संशोधित रूप में चिन्तामणि भाग १, में प्रकाशित है। तुलना के लिए दोनों ही अंश नीचे दिए जा रहे है :—

१९०९ ई.	१९३९ ई.
प्रायः लोग कहा करते हैं कि कविता का अन्तिम उद्देश मनोरंजन है। पर मेरी समझ में मनोरंजन उद्देश नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर इसके सिवा कुछ	प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ

१. सरस्वती–हीरक–जयंती, विशेषांक, (१९००–१९५९ ई.) पृ. ४९०–४९१

और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का प्रधान गुण है। इससे मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। इधर उधर जाने नही पाता। यही कारण है कि नीति और धर्म सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नही करते जैसा कि किसी काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कह कर कि 'परोपकार करो' 'सदैव सच बोलो', 'चोरी करना महापाप है,' हम यह आशा कदापि नही कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, और चोरी करना छोड देगा। क्यो कि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी शिक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नही होता, दूसरे मानव जीवन पर उसका कोई प्रभाव अंकित हुआ न देखकर वह उनकी कुछ परवा नही करता। पर कविता अपने मनो-रंजक शक्ति के द्वारा पढने या सुनने वाले का चित्त उचटने नही देती, उसके हृदय आदि अत्यन्त कोमल स्थानो को स्पर्श करती है, और सृष्टि मे उक्त कर्मो के स्थान और संबंध की सूचना देकर मानव जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम को विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है... .. .. . मन को हमारे आचार्यो ने ग्यारहवी इन्द्रिय माना है। उसका रंजन करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाय तो कविता भी केवल विलास की मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरजन का हलका उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते है, वे रास्ते मे ही रह जानेवाले पथिक के समान है। कविता पढते समय मनोरजन अवश्य होता है, पर उसके उपरान्त कुछ और भी होता है और वही सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर किए रहती है, इसे इधर उधर जाने नही देती। अच्छी से अच्छी बात को भी कभी-कभी लोग केवल कान से सुन भर लेते है, उनकी ओर उनका मनोयोग नही होता। केवल यही कह कर कि 'परोपकार करो', 'दूसरो पर दया करो', 'चोरी-करना महापाप है', हमे यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अप-कारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान, या कोई चोर साधु हो जायगा। क्यो कि ऐसे वाक्यो के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नही, वह ऊपर ही ऊपर रह जाता है। ऐसे व्यापारों द्वारा सूचित व्यापारो का मानव-जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नही होता। (पृ १६२)

सामग्री हुई। परन्तु क्या हम कह सकते है कि वाल्मीकि का आदि काव्य तुलसीदास का रामचरितमानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री है? यदि इन ग्रंथों से मनोरंजन होगा तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य ही होगा। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार रस की उन्माद कारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है"।[1]

ऊपर दिए गए दोनों ही अंश विस्तृत हो गए किन्तु शुक्ल के व्यक्तित्व को समझने के लिए इन्हें लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ। अब इनका विश्लेषण तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैसे कि पहले ही कह दिया है कि शुक्लजी ने १९२२ ई. में 'स्वभाव-संशोधन' शब्द शीर्षक से हटा दिया और केवल 'मनोरंजन' शब्द रखा है। स्वभाव-संशोधन से सम्बन्धित प्रथम अनुच्छेद (जिसका कुछ अंश ऊपर उद्धृत किया गया है) और अन्तिम अनुच्छेद शुक्लजी ने हटा ही दिया। 'स्वभाव-संशोधन' वाले भाग में कविता के प्रति हल्की भावुकता का पुट है, ऐसा शुक्लजी ने अनुभव किया हो। इसी से वह भाग हटा दिया।

मनोरंजन के सम्बन्ध में लिखते समय 'कविता के उद्देश्य' की बात कही गई है। इस सम्बन्ध में १९०९ ई. में लिखे हुए भाग में सहज भावुकता और कविता के प्रति आस्था की भावना शुक्लजी में दिखलाई देती है। इस समय के लेखन में दृढता और आत्मविश्वास की कमी है। इस समय शुक्लजी दो टूक बात करते प्रतीत नहीं होते। इसी तरह अपने विश्वासों को बौद्धिक आधार भी प्रदान नहीं कर सके। इस कथन को पुष्ट करने के लिए हमें उन वाक्यों पर विचार करना पड़ेगा, जो दोनों ही स्थानों पर है किन्तु कुछ हेर-फेर

---

१. सरस्वती–हीरक–जयंती, विशेषांक (१९००–१९५९ ई) पृ. ४९० और ४९१

के साथ है। यह हेर-फर ही बदलते व्यक्तित्व को पहचानने का प्रमाण है। कुछ वाक्य दिए जा रहे है और फिर उन पर विचार प्रस्तुत किए जाएगे।

'प्राय. लोग कहा करते है कि कविता का अन्तिम उद्देश मनोरंजन है। पर मेरी समझ में मनोरजन उसका उद्देश्य नही है। कविता पढ़ते समय मनोरजन अवश्य होता है, पर इसके सिवा कुछ और भी होता है।' (१९०९-ई.) 'प्राय' सुनने मे आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है पर जैसा कि हम पहले कह आए है कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षो का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामजस्य-स्थापन है। (१९३९ ई.)

प्रथम अश में 'लोग कहा करते हैं' 'है और दूसरे में 'सुनने में आता है' है। इसी तरह प्रथम अश मे 'मेरी समझ मे' है जब कि दूसरे अंश मे 'मेरी समझ मे' कट गया है। इस के स्थान पर 'जैसे कि हम पहले कह आए हैं' है। शुक्लजी पहले वाले अश मे कुछ विनीत प्रतीत होते है जब कि बादवाले अश मे दृढता और आत्मविश्वास झलकता है। पहले वाले अश मे अपने विचारो को सम्मुख रखते हुए भी औरो के विचारो का तीव्र खण्डन नही करते जब कि बादवाले अशों मे उन्होने तीव्र खण्डन किया है। पहले वाले अश में विचारो का बिखराव है, उसमे सश्लिष्टता नही है। यही नहीं सिद्धान्त निरुपण भी बादवाले अश में है। जैसे ऊपर के इन दोनों अशो मे कविता क अन्तिम उद्देश्य, की बात (दोनों अशों में) है। पहले अश मे --कविता का अन्तिम उद्देश्य मनोरजन कहा गया है (लोग कहा करते है) इसका खण्डन शुक्लजी तीव्र रूप मे न कर केवल यह कह देते है कि 'मेरी समझ मे मनोरजन उसका उद्देश्य नही है'। यह कथन अपने को विनीत रूप मे प्रस्तुत करनेवाला है। अगले वाक्य मे शुक्लजी यह स्वीकार कर लेते ह कि कविता से मनोरजन होता है पर साथ ही नम्र भाव से यह भी कहते हैं कि इसके सिवा कुछ और भी होता है। इसके विपरीत बाद वाले अश मे शुक्लजी विश्वास के साथ कहते है और डटकर कहते हैं। यहाँ पहले तो उन्होने अन्तिम उद्देश्य के स्थान पर केवल उद्देश्य रखा, यह कहते हुए रखा कि सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरजन है। इसका खण्डन करने के लिए इस समय मे शुक्लजी के पास कविता के उद्देश्य का उत्तर मौजूद है। (यह उत्तर पहले वाले अश में नही है।) उत्तर है-- 'कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षो का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।' अपनी बात को दोहराने के स्वर मे (जैसे कि हम पहले कह

आए हैं।) कहने के बाद बड़ी शक्ति के साथ कविता का उद्देश्य मनोरंजन माननेवालों के लिए कहते हैं— 'इतने गंभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते में ही रह जानेवाले पथिक के समान हैं।' मार्मिक तथ्यों की कल्पना शुक्लजी की बाद की कल्पना है। १९०९ ई. वाले निबन्ध में 'मार्मिक तथ्य' उपशीर्षक नहीं है। कविता के माध्यम से आलोक. यह शुक्लजी की अपनी मौलिक उद्भावना है (इस सम्बन्ध में आगे लिखा जा रहा है।) इस उद्भावना में कविता के अन्तिम लक्ष्य की योजना शुक्लजी ने निश्चित की है। मनोरंजन अन्तिम लक्ष्य नहीं है। कोई यदि ऐसा मान लेता है तो वह रास्ते में रह जानेवाला पथिक ही माना जाएगा, ऐसी शुक्लजी की दृढ मान्यता है।

इस मनोरंजनवाले अंश में एक बात और लिख दें और वह यह कि १९०९ ई. वाले इस अंश में किसी कविता का उदाहरण नहीं दिया गया, जब कि १९३९ ई. वाले इस अंश में गर्मी और शिशिर के सूखे और मसाले वाले कवित्त दिए गए हैं। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि इन उदाहरणों द्वारा शुक्लजी कविता का (मनोरंजन को लक्ष्य मान लेने के कारण) लक्ष्य भ्रष्ट होने से बचाना चाहते हैं।

सैद्धान्तिक रूप से यहीं पर मनोरंजन को एक नया शब्द रमानेवाली शक्ति (कविता की) के रूप में स्वीकार किया गया और इसी संदर्भ में शुक्लजी ने पंडितराज जगन्नाथ का उल्लेख किया। निश्चित ही शुक्लजी इसे लक्ष्य नहीं मानते। पंडितराज जगन्नाथ का उल्लेख उन्होंने गलत लक्ष्य निश्चित किया है, यह कहकर किया है। शुक्लजी लिखते हैं—'कविता की इसी रमानेवाली शक्ति (मनोरंजन) को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरपीय समीक्षकोंने 'आनंद' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ।' (पृ. १६३.) निश्चित ही इन पंक्तियों में शुक्लजी स्पष्ट हैं और दो टूक बात कहते हैं। कोई माने या न माने, वे मानते हैं कि मनोरंजन कविता का अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं।

१०

३. **कविता की आवश्यकता :** इस शीर्षक के अंतर्गत केवल एक अनुच्छेद है। १९०९ ई. में यह निबंध के अंत में नहीं है जब कि १९३९ ई.

मे यह अनुच्छद निबध क अत म है इस अनुच्छद के साथ निबध समाप्त हो जाता है। यहाँ अवलोकनीय तथ्य यह है कि कविता की आवश्यकता (अन्तिम अनुच्छेद) उपसहार रूप मे लिखा हुआ भाग बहुत परिवर्तित नही है। विचारधारा मे विशेष परिवर्तन नही। वाक्य भी लगभग वे ही है। कुछ शब्दो मे अतर अवश्य है। जिस तरह प्रथम अनुच्छेद (१९३९ ई. का और जिसके सबध मे ऊपर विस्तार से लिखा गया है, महत्त्वपूर्ण है, उसी तरह यह अतिम अनुच्छेद भी महत्त्वपूर्ण है। प्रथम अनुच्छेद मे 'कविता क्या ?' (निबध का मूल शीर्षक) का उत्तर है तो इस अन्तिम अनुच्छेद मे (उपसहार मे) उसकी महत्ता का और आवश्यकता का कारण बतलाया गया है।

प्रथम अनुच्छेद की तरह इस अंतिम अनुच्छेद का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है और बाद मे प्रथम अनुच्छेद के साथ उसका सबध दिखलाया जायगा। अन्तिम अनुच्छेद इस प्रकार है।

१९०९ ई	१९३९ ई.
कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि ससार की सभ्य सभी जातियों मे पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य ही होगी। इसका क्या कारण है ? बात यह है कि ससार के अनेक कृत्रिम व्यापारों मे फँसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए ईश्वर ने कविता रूपी औषधि बनाई है। कविता यही प्रयत्न करता है कि प्रकृति मे मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरो को इसकी आवश्यकता नही।"[1]	कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि ससार की सभ्य असभ्य सभी जातियो मे, किसी न किसी रूप मे पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारो का सघन और जटिल मडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सबध भूला-सा रहता है। इसी परिस्थिति मे मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अन्त: प्रकृति मे मनुष्यता को समय समय पर जगाते

1. सरस्वती, हीरक जयती, विशेषाक (१९००-१९५९ई)-पृ. ४९१

रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं (पृ. १०५ और १८९.)

तुलनात्मक दृष्टि से दोनों ही में कविता के प्रति विश्वासों में अंतर नहीं है। बाद वाले अंश में विश्वासों को बौद्धिक आधार प्रदान किया गया है। प्रथम अंश में 'कृत्रिम व्यापार' का उल्लेख है। यह उल्लेख केवल कथ्य रूप में है दूसरे अंश में इस 'कृत्रिम व्यापार' का विश्लेषण है। इस विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक पुट है। कहा गया है कि 'मनुष्य अपने ही व्यापारों का सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य का अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। वास्तव में कविता की आवश्यकता का कारण इन पंक्तियों में स्पष्ट हुआ है। इस स्पष्टता में बौद्धिक प्रमाण है। पहले वाले अंश में ऐसी बात नहीं है। इस उपसंहार के साथ यदि प्रथम अनुच्छेद का संबंध जोड़ें तो कथन और स्पष्ट हो जाता है। प्रथम अनुच्छेद में 'मुक्त-हृदय' की बात कही गई है। कविता हृदय की मुक्ति का साधन है। बद्ध-हृदय होने से बचना है और मुक्त-हृदय होना है। बद्ध होना और मुक्त होना यह जगत् के साथ संबंधों पर निर्भर है, जिसे फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं। बद्ध होने में व्यापार कृत्रिम होते हैं 'यही सभ्यता का आवरण है, यह मंडल मनुष्य स्वयं (कृत्रिम व्यापारों का) ही बाँध रहा है। इसके कारण मनुष्यता अपनी) खोने का डर बना हुआ है। पहले वाले अंश में (१९०९ ई. वाले) ईश्वर का उल्लेख है। शुक्लजी ने बाद वाले अंश में ईश्वर को हटा दिया है। इससे बाद वाला अंश बौद्धिक है यह प्रमाणित हुआ। शुक्लजी ने पहचान लिया कि कविता मनुष्य की सृष्टि है, ईश्वर की नहीं। 'ईश्वर ने कविता रूपी औषधि बनाई है' इसमें भावुकता है। शुक्ल जैसा व्यक्तित्व ऐसा नहीं लिख सकता। लिखा है, तो काट दिया। वैसे इस लेखन में अव्यक्त सत्ता के प्रति विश्वास है और वह विश्वास गलत नहीं किन्तु विश्वास का बौद्धिक आधार प्रदान करना शुक्लजी ने उचित समझा। इसीलिए यह परिवर्तन दिखलाई देता है। 'कविता क्या है' ? निबंध के प्रथम अनुच्छेद में (१९३९ ई.) ही शुक्लजी ने स्वीकार कर लिया कि हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"

(पृ. १४१.) यहाँ स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि कविता मनुष्य की वाणी है। अत ईश्वर ने कविता रूपी औषधि बनाई है, इस अश को काटना आवश्यक था। इसी तरह पहले वाले अश में 'कविता यही प्रयत्न करती है कि प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे।' लिखा है, जब कि सशोधित अश मे "अन्तःप्रकृति मे मनुष्यता को (हृदय को मुक्त करने को, मुक्त–हृदय मनुष्यता है) समय समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी।" बाद का कथन प्रौढ है, यह कहने की आवश्यकता नही।

११

४. **सृष्टि और सौदर्य** · इस शीर्षक मे से बाद मे सृष्टि शब्द हटा दिया गया है। केवल सौंदर्य शीर्षक ही बाद मे रह गया। इस अश मे शुक्लजी ने बहुत परिवर्तन किया है। आरंभवाले अश में सौदर्य के सबध मे शुक्लजी की धारणा स्पष्ट नही थी; यही नही इस अश मे भावुकता का पुट अधिक है। इस भावुकता मे भी शुक्लजी का नैतिक बोध जाग्रत है, यह कहना पड़ेगा और इस नैतिक बोध को ही शुक्लजी ने आगे चलकर बौद्धिक आधार प्रदान किया है। सौदर्य बाहर है या भीतर है ? इस संबंध में निर्णय न देते हुए भी १९०९ ई मे इस अलगाव को उन्होने अनुभव कर लिया था। दोनो ही प्रकार के सौदर्य को शुक्लजी ने महत्त्वपूर्ण माना है। १९०९ ई की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार है :–

> " कविता सृष्टि–सौदर्य का अनुभव करती है और मनुष्य को सुदर वस्तुओ मे अनुरक्त करती है ...भौतिक सौदर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार सतोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौदर्य से भी महाकवियो ने प्राय· इन दोनो सौंदर्यो का (भौतिक और मानसिक) मेल कराया है जो किसी को अस्वभाविक प्रतीत होता है।"[1] यहाँ तक तो ठीक था। किंतु निम्न लिखित अश विचारणीय है।
>
> " किंतु ससार मे प्राय देखा जाता है कि रूपवान् जन सुशील और कोमल होते है और रूपहीन जन क्रूर और दुशील।

---

१. सरस्वती, हीरक–जयंती, विशेषाक (१९००–१९५९ ई.) पृ. ४९१–४९२,

इसके सिवा मनुष्य लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक की सीढ़ी पर पहुँचाकर उसे ईश्वर या अलौकिक बना देता है। पार्थिव सौंदर्य का अनुभव करके हम आध्यात्मिक अर्थात् अपार्थिव सौन्दर्य की ओर आकर्षित होते हैं। अतएव पार्थिव सौंदर्य का चित्रकाव्य कवि का प्रधान कर्म है।"[1]

शुक्लजी ने 'प्रायः' कहा है अतः आध्यात्म की सम्भावना को उन्होंने स्वीकार किया है, यह कहना पड़ेगा। अन्यथा जो सुन्दर होगा वह सुनीति होगा और साथ ही कोमल होगा और इसके विपरीत भी, इस विचार को स्वीकार कर लेना पड़ेगा। शुक्लजी ने यह अंश उड़ा भी दिया है और यह हटाना उचित ही हुआ।

१९३९ ई. वाले अंश में—अपने नैतिक बोध को कायम रखते हुए—शुक्लजी ने सौंदर्य के सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार अभिव्यक्त किए हैं। (इस सम्बन्ध में उनकी विचारधारा को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है.-

अ) 'जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।' (पृ. १६५.)

आ) 'मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौन्दर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। वे अधिकतर अनुभूति की भाषा में पाया जाता है।' (पृ. १६५)

इ) 'कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है .. जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी सुन्दर रूप कविता ढूंढकर दिखाती है।' (पृ. १६६.)

ई) 'सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ—अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थ-शास्त्र, आदि के शब्द हैं। (पृ. १६७)

---

१. सरस्वती, हीरक जयंती, विशेषांक (१९००–१९५९ ई.) पृ. ४९२.

इन प्रपत्तियों की व्याख्या विस्तृत रूप से की जा सकती है और इन प्रपत्तियों पर कविता के संदर्भ मे विचार किया जा सकता है। निबन्ध के विस्तार को देखते हुए विवेचन संक्षेप मे ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

शुक्लजी मानते है कि सौन्दर्य बाहर है और भीतर भी है। इस झगड़े को वे गड़बड़झाला कहते है। वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नही अतः सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। ये विचार एकदम स्पष्ट है। सुन्दरता का बोध कैसे होगा ? इसका उत्तर शुक्लजी के पास ये है 'प्रपत्ति नं. अ' वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या उससे सम्बन्धित भावना के अभाव मे सौन्दर्य की कल्पना करना व्यर्थ है। इस प्रपत्ति में यह मान लिया गया कि सौन्दर्य बाहर है, वस्तुओं में है। यही पर यह भी मान लिया गया कि वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान (भावना रूप में) होना आवश्यक है। शुक्लजी जब प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं तो उसके आगे 'या भावना' लिखते है। अर्थात् भावना को वे विशेष अर्थ में प्रयुक्त कर रहे है। प्रत्यक्ष ज्ञान कहो या भावना कहो (दोनों एक अर्थ में) जब वस्तु के सम्बन्ध में तदाकार की स्थिति जाग्रत करेंगे तभी सौन्दर्य का अनुभव होगा। यों कहना चाहिए कि सौन्दर्य का अनुभव या तदाकार की स्थिति वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना पर निर्भर है। सौंदर्य की अनुभूति को बतलाने के बाद उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रपत्ति 'आ' यह है कि अनुभूति की मात्रा में अन्तर होने पर भी संसार की सभी सभ्य जातियों में सौन्दर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। इस सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट धारणा यह है कि सौन्दर्य के ये सामान्य आदर्श मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँचे हुए हैं। इस दूसरी प्रपत्ति के आधार पर ही शुक्लजी कविता के सौंदर्य का विश्लेषण करते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता यह है कि कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। काव्य में इस दृष्टि से शुक्लजी ने दो ही पक्ष माने हैं—सुन्दर और कुरूप। यह सब कहते समय शुक्लजी यह नही भूलते कि काव्य का सुन्दर पक्ष मनुष्यता की सामान्य भूमि से सम्बन्ध रखनेवाला है।

१२

५–६ कविता की भाषा तथा श्रुतिसुखदता : इन दोनों शीर्षकों का विवेचन एकत्र रूप में इसलिए किया जा रहा है कि बादवाले निबन्ध में शुक्लजी ने 'श्रुतिसुखदता' शीर्षक हटा ही दिया है और १९०९ ई. में दोनों शीर्षकों के अन्तर्गत लिखे गए अंश को एक ही शीर्षक 'कविता की भाषा' के अन्तर्गत

रखा है । इसीलिए दोनों शीर्षकों का विवेचन पृथक रूप में किया रहा है ।

१९०९ ई. वाले अंश में शुक्लजी ने कविता की भाषा पर विस्तार से लिखा है और इस समय लिखे गए अपने इस निबन्ध में इसी अंश में कविता के कुछ उदाहरण दिए हैं । उनमें से कुछ उदाहरण बादवाले निबन्ध (१९२९ ई.) में भी हैं । कविता की भाषा का विवेचन करते समय शुक्लजी ने कविता की भाषा में पाए जानेवाले कुछ प्रमुख लक्षणों (विशेषताओं) का विवेचन किया है । इस संदर्भ में ध्यान में रखने की बात यह है कि शुक्लजी का ध्यान इस समय भाषा पर है । इस दृष्टि से उन्होंने 'शब्दों' पर विचार किया है । शब्दों पर विचार करते समय भी उन्होंने कविता की भाषा की सामान्य विशेषताएँ देखने का प्रयास किया है । इस तरह से देखने में उनकी दृष्टि वैज्ञानिक की है । (भाषा वैज्ञानिक की कह सकते हैं ।) उनका यह विवेचन तथ्यों के आधार पर है और सप्रमाण है और बाद में निष्कर्ष भी दिए गए हैं ।

१९०९ ई. में लिखा गया प्रथम अनुच्छेद (कविता की भाषा के अन्तर्गत) शुक्लजी ने बाद में पूर्णतः हटा दिया है । किन्तु इस अनुच्छेद को भी ध्यान से देखें तो इस अनुच्छेद में भी विश्लेषक दृष्टि है । कविता में प्रयुक्त पुराने शब्दों को देखते हुए उन्होंने यह सोचा कि " मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है । पुराने शब्द लोगों को मालूम ही रहते हैं । इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही जाते हैं ।"[1] यह ध्यान में रखने की बात है कि जिस समय शुक्लजी यह निबन्ध लिख रहे थे उस समय कविता में (खड़ी बोली में लिखी गई कविताओं में) ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग होता था । शुक्लजी लिखते हैं :– " हिन्दी में 'राजते हैं', 'गहते हैं', 'लहते हैं', 'सरसाते हैं' आदि प्रयोगों का खड़ी बोली तक की कविता में बना रहना कोई अचम्भे की बात नहीं ।"[2] इस सम्बन्ध में वे आगे लिखते हैं–" पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिए, वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों ।"[3] इसी तरह शुक्लजी का ध्यान संयुक्त क्रियाओं पर भी गया है । लिखा है – " खड़ी बोली में संयुक्त क्रियाएँ बहुत लम्बी होती हैं। जैसे – 'लाभ करते हैं', 'प्रकाश करते हैं' आदि । कविता में इनके स्थान पर 'लहते हैं', 'प्रकाशते हैं' कर देने से कोई

---

१. सरस्वती; हीरक-जयंती, विशेषांक, (१९००-१९५९ ई.)-पृ. ४९१,

२ – वही –पृ. ४९२

३ – वही–पृ. ४९२

हानि नही, पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिए ठीक नही हो सकती।" [1] शुक्लजी ने यह सारा अंश हटा ही दिया। १९३९ ई. तक खड़ी बोली पूर्णत: प्रतिष्ठित हो चुकी थी और इस समय में ब्रजभाषा के शब्दो को रखना आवश्यक नही माना गया, अत: इस प्रसग को शुक्लजी ने छोड दिया। एक और बात यह कि उस समय में शुक्लजी द्वारा दिया गया तर्क वजनदार नही है। यह कहना कि 'पुराने शब्द हमें मालूम ही रहते है। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही जाते है।' तर्कसगत नही है। तर्क वजनदार नहीं है, पर तथ्य सही है। यह सब इसलिए लिखा गया कि इस समय भी (वजनदार तर्कों के न होने पर भी) शुक्लजी की दृष्टि तथ्यों पर रही है। जो तथ्य शुक्लजी ने दिए है, वे सही है। शुक्लजी ने आरम्भ से ही तथ्यों पर ध्यान दिया है।

अब हम १९३९ ई. मे लिखे 'कविता की भाषा' पर विचार करे। इस समय मे उन्होंने कविता की भाषा की चार विशेषताएँ बतलाई है। वे इस प्रकार है :--

१) अगोचर बातो या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्ति विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लेती है। (पृ. १७५)

२) कविता की भाषा की दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति सकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते है। (पृ. १७६)

३) तीसरी विशेषता कविता की भाषा में वर्णविन्यास की है। (पृ १७९)

४) हमारी काव्य भाषा मे एक चौथी विशेषता भी है जो सस्कृत से ही आई है। वह यह है कि कही-कही व्यक्तियों के नामो के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्य-बोधक शब्दो का व्यवहार किया जाता है। (पृ. १८०)

इन चारो विशेषताओं में से दो विशेषताओं का उल्लेख १९०९ ई. वाले अश मे 'कविता की भाषा' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है और बाद की

---

१. — वही — पृ ४९२.

विशेषताओं का उल्लेख 'श्रुतिसुखदता' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है। कविता की भाषा की इन विशेषताओं के प्रति डॉ. बच्चनसिंह ने लिखा है :– "उन्होंने (शुक्लजी) 'कविता क्या है ?' निबंध में भाषा की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है ? १. मूर्ति विधान २. जातिसूचक शब्दों की अपेक्षा रूप-व्यापार सूचक शब्दों का प्रयोग, ३. वर्ण विकास (वर्णविन्यास होना चाहिए) और ४. व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके गुणबोधक शब्दोंका व्यवहार। इनमें पहले और दूसरे में कोई भेद नहीं है। तीसरा वर्णोंकी मधुरता–कटुता से सबद्ध है। इसी के अन्तर्गत वे नाद–सौष्ठव को भी लेते हैं। वर्णविन्यास, लय, अन्त्यानुप्रास आदि को नाद सौन्दर्य का साधन मानते हैं। खेद है कि इस संबंध में उन्होंने ऊपरले स्तर के ही विचार व्यक्त किये हैं - नाद–सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है .... स्पष्ट है कि नाद–सौन्दर्य को कविता के बाह्य ढाँचे से संबद्ध करते हैं, उसके आन्तरिक अर्थ से नहीं।"[1] यहां कहना यह है कि (यह कहना शुक्लजी के बचाव में नहीं) कविता की भाषा की विशेषताओं का उल्लेख करते समय शुक्लजी ने कविता की भाषा में पाए जानेवाले तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और जो तथ्य दिखलाई दिए उन्हें उन्होंने सप्रमाण लिखा है। शुक्लजी का निबन्ध स्वतंत्र रूप से कविता की भाषा पर नहीं है, वह 'कविता क्या है ?' विषय पर है। अतः विषयानुरूप उन्होंने निबन्ध की सीमा को पहचानते हुए कविता की भाषा की कतिपय विशेषताए लिखी हैं और जो तथ्य दिए हैं वे आज भी सही हैं। बाहरी तथ्यों के आधार पर ही हम भीतर पहुँच सकते हैं या यों कहिए कि जो भीतर है उसका बोध बाहर आने पर ही होगा। अतः वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बाहरी तथ्यों को प्रस्तुत करना बहुत आवश्यक है। तथ्यों के अभाव में शास्त्रीय विवेचन सभव ही नहीं। आचार्य शुक्ल ने भाषा की जिन स्थूल विशेषताओं (कविता की भाषा की) की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वे बाहरी तथ्य हैं और सामान्य तथ्य हैं, जिनका सम्बन्ध कविता से ही है (प्राय. कविता से हैं)। साहित्य के भीतर अनेक विधाएं हैं और उन विधाओं में प्रत्येक विधा की भाषा की अपनी विशेषताएँ हैं। नाटक की भाषा, कहानी की भाषा, कविता की भाषा, आदि आदि। इस दृष्टि से शुक्लजी के बाद सोचा तो जा रहा है किन्तु शास्त्रीय प्रयास अब भी आगे बढ़ गया ऐसा नहीं कहा जा सकता। डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी की पुस्तक 'भाषा और संवेदना' एक उत्तम प्रयास है; किन्तु ध्यान से देखें तो शुक्लजी द्वारा लिखा गया

---

१ कल्पना फरवरी १९७१ प ८

'कविता की भाषा' वाला अंश और रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा 'काव्य भाषा' वाला अंश दोनों मे शुक्लजी वाले अंश में वैज्ञानिकता अधिक मिलेगी। (यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से दोनो को प्राप्त या उपलब्ध तथ्यो के आधार पर विचार करना चाहिए) कविता की भाषा मे सामान्य रूप से पाए जानेवाले स्थूल तथ्यों को पकड लेना साधारण बात नही है। सामान्य होने के नाते वे हमे ऊपर के प्रतीत होते है किन्तु इनको पकडना कितना कठिन है ? यह तब समझ मे आ जाएगा जब हम रामस्वरूप चतुर्वेदीजी की पुस्तक पढ ले और सोचे कि साहित्य की विधाओं की भाषाओ के अन्तर को पहचानने के लिए तथ्यो को खोजना कितना कठिन है ? रामस्वरूप चतुर्वेदीजी की पुस्तक में खोज की छटपटाहट है (यह अच्छा है) जब कि शुक्लजी की पुस्तक में पूर्ण आत्मविश्वास। इस आत्मविश्वास के कारण ही विषय को स्पष्ट रूप से लिखना सभव हुआ है।

'श्रुतिसुखदता' शीर्षक हटाने के साथ, इस शीर्षक के अन्तर्गत लिखा हुआ वह भाग हटा दिया गया है, जो भावुक है और आवेश में लिखा गया है। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है, इस विचार मे परिवर्तन तो नही हुआ किन्तु शुक्लजी ने यह अनुभव कर लिया कि कथन कुछ सीमातीत हो गया। जैसे :-

> "हमारी छन्दोरचना तक की कोई कोई अवहेलना करते है-वह छन्दोरचना जिसके माधुर्य को भूमण्डल के किसी देश का छन्द-शास्त्र नहीं पा सकता और जो हमारी श्रुतिसुखदता के स्वाभाविक प्रेम के सर्वथा अनुकूल है ... .. आदि आदि "[1]

इस भावुक अंश को छोडकर १९३९ ई का अंश जब कि विचारधारा स्थिर हो गई और यह निश्चय हो गया कि यह सब साधन है.- "काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह सगीत का कुछ कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग वृत्ति-विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि आदि नाद-सौन्दर्य साधन के लिए ही है।" (पृ. १७९.)

---

१. सरस्वती, हीरक-जयंती, विशेषांक, (१९००-१९५९ ई.) पृ. ४९३.

७ अलंकार : १९०९ ई. और १९३९ ई. वाले दोनों अंशों की (इस शीर्षक के अन्तर्गत लिखे गए विवरण की) तुलना करने से शुक्ल व्यक्तित्व को समझने में सहायता मिलती है। विशेष रूप से शुक्ल की प्रतिभा स्पष्ट करने की दृष्टि से तुलना की जा रही है।

शॉपेनहावर का कहना है : 'प्रतिभा केवल कर्म-विषयता का पूर्ण रूप है-अर्थात् मन की विषयगत प्रवृत्ति है।'' [1] मन की विषयगत् प्रवृत्ति के कारण विषयवस्तु का सारभूत एवं आवश्यक अंश स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रतिभा के जाग्रत होने पर विचार शक्ति चित्तवृत्ति का आवरण हटाकर बाहर आती है और वस्तुओं का आन्तरिक रूप प्रकट कर देती है। प्रतिभा की दृष्टि से देखें तो १९०९ ई. में शुक्लजी ने अलंकार के सम्बन्ध में जो लिखा, वह १९३९ ई. में विशेष परिवर्तित नहीं हुआ है। यह अंश नीचे लिखा जा रहा है :-

'अलंकार है क्या? सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुन्दर -सुन्दर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो-जो विशेषताएं मालूम होती गई, उनका वे नामकरण करते गए। जैसे, 'विकल्प' अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं, सब ढूंढ डाले गए, वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियां हो सकती हैं, सब निरूपित हो गईं अथवा जो स्थल रमणीय लगे, उनकी रम-णीयता का कारण वर्णनप्रणाली ही थी? आदि काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन-प्रणालियां भरी पड़ी है, जो न निर्दिष्ट की गई है और न जिनके कुछ नाम रखे गए है।' (पृ. १८४-१८५.)

अलंकार से संबंधित ये पंक्तियां कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ १९०९ ई. वाले अंश में भी है। अलंकारों के नामकरण, वर्गीकरण एवं उनकी विशेषताओं के संबंध में विशेष विस्तार इन पंक्तियों में न होने पर भी समस्या को मूलरूप से पहचानने की दृष्टि इन पंक्तियों में है।

---

१ दर्शन की कहानी विलड्रेन्ट अनुवादक के चौधरी)
पृ. १३०

अलकारों का (किसी भी प्रकार के अलंकार का) अन्तर्बाह्य अवलोकन इन पंक्तियो मे है । इस अवलोकन में प्रतिभा की झलक है । यह कहना कि आदि काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन-प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं, जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गए है, आज भी सही है । अलकारों की पहचान सूक्ष्म दृष्टि वालों ने ही की है। काव्य के सुन्दर-सुन्दर स्थलों को उन्होंने चुना और नामकरण किया । शुक्लजी मानते है कि अलकार वर्णन-प्रणाली है । साथ ही उनकी यह भी मान्यता है कि अलकार साधन है । इसी तरह शुक्लजी ने यह भी लिखा कि " अलकार लक्षणो के बनने के बहुत पहले कविता होती थी और अच्छी होती थी । अथवा यो कहना चाहिए कि जब से इन अलकारो को हठात् लाने का उद्योग होने लगा तब से कविता कुछ बिगड चली । " [1]

अलकार के सबन्ध में दृष्टिकोण में (ऊपर लिखे गए) अन्तर न आने पर भी १९३९ ई का अंश १९०९ ई के अंश से दुगुने से भी अधिक है और प्रौढ है । प्रतिभा बिना परिश्रम के चमकती नहीं। १९०९ ई. के निबध में अलंकार सप्रदाय, रस सप्रदाय आदि का उल्लेख नही है । शास्त्रीय दृष्टि से शुक्लजी ने उस समय में कोई विवेचन भी नही किया । यह विवेचन १९३९ ई. के निबंध मे है । इस समय मे अलकार के प्रति आचार्यो में पाई जानेवाली उद्भावनाओं पर भी शुक्लजी ने अपना मत व्यक्त किया है । उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए अलंकारों के रमणीय और चमत्कारिक रूपों पर भी इस समय मे विचार किया गया है । भरत मुनि से विश्वनाथ तक सब को एक ही अनुच्छेद में समेटते हुए शुक्लजी ने लिखा है । :-

> " भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था, पर भामह, उद्भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड अलकारों को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यो ने अलकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में......रस, रीति, गुण आदि काव्य में प्रयुक्त होनेवाली सारी सामग्री के अर्थ में-किया है। पर ज्यों-ज्यो शास्त्रीय विचार गंभीर और सूक्ष्म होता गया त्यों-त्यों साध्य और साधनों को विविक्त करके

---

१ सरस्वती, हीरक-जयती, विशेषाक, (१९००-१९५९ ई) पृ. ४९४.

काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते–उभरते विश्वनाथ महापात्र के साहित्य–दर्पण में साफ ऊपर आ गया।" (पृ. १८०.)

इस विवेचन में शुक्लजी का झुकाव विश्वनाथ की ओर है, यह स्पष्ट है। रस को शुक्लजी अलंकार की तुलना में अधिक प्रधानता देते हैं। वर्ण्य वस्तु और वर्णन–प्रणाली दोनों में वर्ण्य–वस्तु को प्रधान मानना चाहिए, ऐसा शुक्लजी का आग्रह है। अलंकार वर्णन–प्रणाली ही है।..." अब यह स्पष्ट हो गया कि 'अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य-वस्तु नहीं; बल्कि वर्णन की भिन्न–भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास ढंग हैं।" (पृ. १८३.) वर्ण्य–वस्तु से संबंधित स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति पर शुक्लजी ने स्वतंत्र रूप से विचार किया है। इनके सम्बन्ध में भी साफ लिखा है कि इन्हें अलंकार नहीं कहा जा सकता। इनको अलंकार कहनेवाले आचार्यों का उल्लेख करके शुक्लजी ने उनका खण्डन किया है। अलंकारों की ओर अधिक झुकाव के कारण कविता में चमत्कार का प्रवेश हुआ है। इस प्रवेश को शुक्लजी अच्छा नहीं मानते। १९३९ ई. वाले निबन्ध में अलंकार शीर्षक से अलग, 'चमत्कारवाद' शीर्षक पर उन्होंने अपने विचार अलग से व्यक्त किए हैं।

१४

अब तक के विवेचन में १९०९ ई. के निबन्ध का क्रम था और साथ ही उस क्रम में १९३९ ई. के परिवर्तित अंशों पर भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया। इससे आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व (विचारों की दृष्टि से बदलते व्यक्तित्व) को विश्लेषित करने में सुविधा हुई। अब नीचे १९३९ ई. के नए क्रम को एवं निबन्ध में पाई जानेवाली उद्भावनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

१५

१९०९ ई. में लिखे गए निबन्ध में कविता के प्रति आस्था व्यक्त हुई है। साथ ही कविता के प्रयोजन पर भी विचार व्यक्त किए गए हैं। कविता के अंगों को अलग अलग रूप से देखने का प्रयास भी इसमें है। विशेष रूप से भाषा की विशेषताएँ, सौंदर्य और अलंकार को स्वतंत्र रूप से खोजने का–तथ्यान्वेषण की दृष्टि से–प्रयास इस निबन्ध में है। कविता की आवश्यकता

पर शुक्लजी ने बहुत जोर दिया है । इस तुलना में १९३९ ई. में इन मूलभूत (कविता सम्बन्धी) अंगो का विवेचन करते हुए भी विषय को अध्ययन का आधार, उपयुक्त प्रमाण एवं विचारों की दृढ़ता, खण्डन-मण्डन में आत्म-विश्वास और सब से बढ़कर एक सुनिश्चित क्रम प्रदान किया गया है ।

इस नए क्रम मे प्रथम अनुच्छेद पूर्णत: नया है और इसी अनुच्छेद में 'कविता क्या है ?' का उत्तर आचार्य शुक्ल ने दिया है (इस सम्बन्ध में ऊपर लिखा गया है ।) इसके बाद के शीर्षकों को (उपशीर्षको को) स्थूल रूप में दो भागो मे बाँटा जा सकता है । इन दोनो भागों को आरम्भ और उपसंहार से भिन्न मानना चाहिए । आरम्भ मे मुख्य शीर्षक-'कविता क्या है ?'– है और उपसहार मे 'कविता की आवश्यकता' है । इनके बीच वाले शीर्षकों को ' मनुष्यता की उच्च भूमि ' तक को शेष–आगे आने वाले-उपशीर्षकों से अलग किया जा सकता है : इनको नीचे स्पष्ट रूप से लिखा जा रहा है '–

आरम्भ । : कविता क्या है ? (निबन्ध का मुख्य शीर्षक)

पू ..सभ्यता के आवरण और कविता
र्वा : कविता और सृष्टि प्रसार
र्ध : मार्मिक तथ्य
. काव्य और व्यवहार
. मनुष्यता की उच्चभूमि, (चरम रूप)

उ : भावना या कल्पना ।
त्त : मनोरजन ।
रा : सौंदर्य ।
र्ध : चमत्कारवाद ।
: कविता की भाषा ।
: अलकार ।
कविता पर अत्याचार ।

उपसहार : कविता की आवश्यक्ता

मनुष्यता की उच्च भूमि तक का निबन्ध शेष निबन्ध से कुछ अलग प्रतीत होता है । मुख्य शीर्षक के अन्तर्गत अपनी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं के के बाद ' मनुष्यता की उच्चभूमि ' तक शुक्लजी कविता के सम्बन्ध में अपने अभिमतों को व्यक्त करते जाते है । १९०९ ई. वाले निबन्ध में ' कार्य में प्रवृत्ति ' वाला अंग यहाँ कुछ सीमा तक 'सभ्यता के आवरण और कविता'

शीर्षक के अन्तर्गत आ गया है। बाकी सब—कविता और सृष्टि प्रसार, मार्मिक तथ्य, काव्य और व्यवहार तथा मनुष्यता की उच्च भूमि—नया लिखा गया है। मनुष्यता की उच्चभूमि तक वाले भाग को यदि पूर्वार्ध भाग में (यह भाग उत्तरार्ध से कम होने पर भी) तो यह कहना पड़ेगा कि कविता सम्बन्धी शुक्लजी की निजी मान्यताएं—स्थापना एवं मण्डन की दृष्टि से इसी भाग में अधिक है।

निबन्ध का उत्तरार्ध भाग अपेक्षाकृत बड़ा है। अध्ययन की दृष्टि से यह भाग अधिक महत्त्वपूर्ण है। खण्डन वाला भाग प्राय: यही है। कविता के सम्बन्ध में आचार्यों, पाश्चात्य विचारकों के मतों का उल्लेख एवं उन विचारों से सहमति-असहमति इस भाग में ही है। खण्डन करने के लिए विषय का (उस विषय का जिसका खण्डन करना हो) अध्ययन गंभीर करना पड़ता है, उदाहरण भी देने पड़ते है। यह सब उत्तरार्ध में है।

१६

अब हम पूर्वार्ध को देखें और विचार करें कविता सम्बन्धी आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं पर विचार करें। निबन्ध के प्रथम अनुच्छेद का विवेचन ऊपर प्रस्तुत किया गया है। अब उसको न दोहराते हुए उसके आगे की स्थापनाओं पर विचार किया जा रहा है।

१. सभ्यता के आवरण और कविता : कार्य में प्रवृत्ति के अन्तर्गत इस शीर्षक का संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया है। स्थापना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएं ये हैं :—

सभ्यता के आवरण के कारण भावों के मूल या आदिम रूप आवृत हैं, छिप गए हैं या प्रच्छन्न हैं। इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि कर्म का मुख्य अंग है। काव्य में अर्थग्रहण से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का हो ही सकता है।

२. कविता और सृष्टि-प्रसार : यह शीर्षक पूर्णत: नया है। भावों के विषय सभ्यता के आवरण से प्रच्छन्न हो गए कहने के बाद और इसी तरह प्रच्छन्न रूप को दूर कर भावों के आदिम रूपों का साक्षात्कार कराने में कविता को बिंबरूप में प्रस्तुत करने के लिए कहने के बाद, अब शुक्लजी भावों के सृष्टि में प्रसार को स्पष्ट करते हैं। शुक्लजी लिखते हैं। " हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता

बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अ त प्रकृति का सामजस्य घटित करती हुई उसकी भावसत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।" (पृ १४५–१४६) यहाँ एक प्रकार से भावो के विषय बतलाए गए है। (भाव के ये विषय सभ्यता के आवरण से मुक्त तथा आदिम रूप मे हैं) शुक्लजी भावों के इन विषयों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते है। भावो के विषय की ओर जो दृष्टि जाती है, वह काव्यदृष्टि है। शुक्लजी लिखते है– " काव्यदृष्टि कही तो १ नरक्षेत्र के भीतर रहती है २. कही मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३. कही समस्त चराचर के।" (पृ. १४६.) शुक्लजी विस्तार के साथ उदाहरण देते हुए इन सबको समझाते है। इन सब को लिखते समय (काव्यानंद के बोध से) शुक्लजी भावुक हो जाते हैं और उदाहरणों की माला प्रस्तुत करते है। उदाहरणो की यह माला ' काव्य मे प्रकृति चित्रण ' से सबध रखनेवाली है। (इस विषय पर शुक्लजी ने स्वतत्र निबंध लिखा है, चिंतामणि भाग २) शुक्लजी के प्रकृति प्रेम को कमजोरी माना गया है। इस सबध में आलोचना-प्रत्यालोचना न करते हुए प्रसग के अनुसार ही यह विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

नरक्षेत्र के सबंध मे कहा गया है कि .." ससार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति के नाना सबधो और पारस्परिक विधानो का सकलन या उद्भावना ही काव्यों में - मुक्तक हों या प्रबध अधिक तर पाई जाती है।" (पृ १४६.) इस सबध में और आगे लिखा है ." मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियो के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु–व्यापार आदि लाए जाते है उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर सबधी भावों को तीव्र करने के लिए ही है।" (पृ. १४७.) मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को आलबन मानकर लिखी गई कविता परिमाण में कम है। संस्कृत के प्रबध काव्यो के बीच–बीच में इस प्रकार के उदाहरण मिल जाते है। शुक्लजी इस प्रकार की कविता को...जहाँ मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को आलबन माना गया है–अच्छी मानते हैं। मेघदूत की इस दृष्टि से शुक्लजी ने बहुत प्रशंसा की है। इसी प्रसग में अन्ततः साहचर्य–सभूत–रस का उल्लेख शुक्लजी ने किया है। इस रस के कारण सामान्य सीधे–सादे चिर–परिचित दृश्यों में माधुर्य की अनुभूति होती है।

' कविता और सृष्टि प्रसार ' प्रसग का समापन करते हुए शुक्लजी कविता संबधी अपनी मान्यता को दोहरा देते है (प्रथम अनुच्छेद मे लिखी

गई) और प्रस्तुत प्रसंग भी उस मान्यता के साथ जोड़ दी है। इस संबंध में लिखा गया निम्नलिखित अंश महत्त्वपूर्ण है :-

> " संपूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और संपूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी सत्त्वरस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।" (पृ. १५१.)

ध्यान से देखें तो यहाँ पर शुक्लजी अपनी इस मान्यता को दोहराते है– "इस साधना को (कविता की) हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं"। (पृ. १६१.) शुक्लजी इस साधना को मनुष्यत्व की साधना कहते है।

३. **मार्मिक तथ्य** . निबंध का यह भाग या यह अंश उद्भावना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। कविता की साधना को भावयोग कहना और उसे ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के समकक्ष मानना, इसी तरह अद्वैत भूमि में पहुँचने की बात कहना (ज्ञान की दृष्टि से), परम भाव में अन्तर्भूत होना (भावों की दृष्टिसे) ये सब विचार ऐसे हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि कविता का प्रयोजन मनुष्यत्व है। और मनुष्यत्व की पहचान ज्ञानयोग, भावयोग तथा कर्मयोग है। कविता की दृष्टि से यह भावयोग है। शुक्लजी अपने निबन्ध में भावयोग का विश्लेषण करते चलते हैं। भावयोग के मार्ग में सभ्यता बाधा है (आवरण है), सभ्यता में अर्थग्रहण होता है, इसे दूर करना कवि कर्म है। कवि का यह कर्म अर्थग्रहण से नहीं बिम्बग्रहण से संभव है। बिम्बग्रहण में भावों के विषय का प्रश्न सामने आया तो शुक्लजी ने उसका वर्गीकरण किया और सृष्टि प्रसार के अन्तर्गत भावों के आलम्बनों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसके बाद इस सृष्टि प्रसार के भीतर ही (भावों के आलम्बनों के भीतर ही) तथ्यों की खोज हुई। भावयोग के तथ्यों को शुक्लजी ने 'मार्मिक तथ्य' कहा है। ध्यान देने की बात यह है कि कविता के तथ्यों को पहचानने में शुक्लजी की दृष्टि वैज्ञानिक है। तथ्यों के भीतर ही सत्य निहित होता है और सत्य शुद्ध ज्ञान है। तथ्यों का यह विवेचन 'ज्ञान के सिद्धान्त' की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वैसे शुक्लजी 'ज्ञान का सिद्धांत' नहीं लिख रहे है। उन का यह लेखन आनुषंगिक रूप से हो गया है। ज्ञान प्रसार

भाव प्रसार के बिना सभव नही। और ज्ञान प्रसार तथ्यो के बिना सभव नही। सभी तथ्यों का सबध ज्ञान से है उन में से (भाव के आलम्बन की दृष्टि से) रसात्मक तथ्य, मार्मिक तथ्य है। शुक्लजी ने लिखा है - - 'ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ मे ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती है। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावो के सचार के लिए मार्ग खोलता है, ज्ञान प्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता हैं।' (पृ. १५६.).

मार्मिक तथ्यो के आधारपर ही बद्ध-हृदय, मुक्त-हृदय में परिवर्तित हो सकेगा। लिखा है-' नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली काव्यदृष्टि की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र में मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायगी" (पृ.१५६)

और अन्तत. इन तथ्यो के सम्बन्ध में शुक्लजी अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहते है कि इन तथ्यो की खोज-मार्मिक तथ्यों की--कविकर्म का मुख्य अग है। -' विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यो के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी-उसका इस रूप मे प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके-कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा।' (पृ. १५७)

४. **काव्य और व्यवहार :** ज्ञानप्रसार के बाद भावप्रसार होता है, उसी तरह भावप्रसार के बाद ही कर्मप्रसार होगा। (संभावना यही है)। शुक्लजी मानते है कि कर्म मे प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। व्यावहारिक दृष्टि से शुक्लजी मानते है कि 'कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती हैं।' (पृ १५८) अपनी इस धारणा को व्यक्त करते समय विपरीत धारणा रखनेवालो का (काव्य का व्यावहारिक उपयोग न माननेवालों का) शुक्लजी ने खण्डन किया है। एक प्रकार से शुक्लजी यहाँ भावयोग और कर्मयोग का साम्य दिखला रहे है। मार्मिक तथ्यो के विवेचन मे ज्ञानयोग के साथ भावयोग की बात जैसे कही गई, वैसे ही यहाँ भावयोग की समानता व्यावहारिक दृष्टि से कर्मयोग के साथ दिखलाई गई है। यह दिखलाते समय शुक्लजी स्वय आवेग में आ गए है (शुक्लजी की भावात्मिका वृत्ति जाग गई है।) और इस नाते उन्होंने अर्थपरायणों को फटकारा है।

५ मनुष्यता की उच्चभूमि सभ्यता के आवरण और कविता' 'कविता और सृष्टिप्रसार,' 'मार्मिक तथ्य' तथा 'काव्य और व्यवहार' के अन्तर्गत जो कुछ कहा गया उसका समाहार शुक्लजी ने यहाँ (मनुष्यता की उच्चभूमि के अन्तर्गत) किया है। इस समाहार में अपनी पूर्वस्थापना (प्रथम अनुच्छेद की–'कविता क्या है ?' के ऊपर की) को पुष्ट किया है। भावयोग कविता की साधना है और यह साधना मनुष्यत्व की उच्चभूमि के लिए है, ऐसी शुक्लजी की मान्यता है। इस सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं :–

" कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च-भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सब से उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय, विश्वहृदय हो जाता है।" (पृ. १६१)

एक प्रकार से इन पंक्तियों के साथ शुक्लजी कविता के सम्बन्ध में सकारात्मक रूप में (Positively) जो कुछ कहना चाहते हैं, कह देते हैं। वैसे तो प्रथम अनुच्छेद में ही उन्होंने कह दिया था किन्तु बाद का विस्तार –मनुष्यता की उच्चभूमि तक का विस्तार– उस अनुच्छेद का क्रमिक विश्लेषण है। इस क्रम में पूर्णता है और अपनी स्थापनाओं के सम्बन्ध में शुक्लजी को पूर्ण आत्मविश्वास है।

अपनी इन स्थापनाओं में शुक्लजीकी प्रतिभा व्यक्त हुई है। हिंदी में आचार्य शुक्ल से पहले इतनी स्पष्ट धारणा–कविता के संम्बन्ध में–किसी की नहीं दिखलाई देती।

१७

उत्तरार्ध भाग में शुक्लजी को अधिक परिश्रम करना पड़ा है। इस भाग में ' मौलिक स्थापना ' नहीं है। यों कहना चाहिए कि कविता के संबंध में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के पारम्परिक एवं प्रचलित मान्यताओं के संबंध में शुक्लजी की जो धारणाएँ (प्रतिक्रिया रूप में) रही हैं, वे यहाँ व्यक्त हुई हैं। अपना मत या अपनी विचारधारा स्थिर हो जाने पर अन्य विचार–धाराओं से यदि टकराहट हो तो खंडन–मंडन होता ही है। इस के लिए अपने ज्ञान पर विश्वास चाहिए और विरोधियों के पक्ष का ज्ञान भी अपेक्षित है। विरोधी पक्ष का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धैर्य एवं सतत अध्यवसाय की

आवश्यकता है। ऐसा कार्य गंभीर व्यक्तित्व के अभाव में संभव नहीं। पूर्वार्ध में शुक्लजी का आचार्य पक्ष प्रबल है (मौलिक उद्भावनाओं के कारण) तो उत्तरार्ध मे उनका समीक्षक या आलोचक (खंडन–मंडन के कारण और उदाहरणो की अधिकता के कारण) पक्ष प्रबल है। वैसे पूर्वार्ध की छाया उत्तरार्ध पर अप्रत्यक्ष रूप से विराजमान है। उस के अभाव में खंडन–मंडन मे इतना बल न आ पाता।

१९०९ ई. की तुलना मे इस उत्तरार्ध मे नए आनेवाले शीर्षक तीन है। भावना या कल्पना, चमत्कारवाद और कविता पर अत्याचार। मनो–रंजन, सौंदर्य, कविता की भाषा एवं अलंकार इन शीर्षकों पर ऊपर–तुलना करते समय–विचार हो चुका है। अत. यहाँ नए आनेवाले शीर्षकों पर ही विचार किया जा रहा है।

१. **भावना या कल्पना** : इस शीर्षक की आरंभिक पंक्ति से ही निबंध के बदले हुए स्वर का बोध हो जाता है। यहाँ से आगे शुक्लजी पूर्वार्ध की मान्यताओ को बार–बार दोहराते रहते हैं। यहाँ पर उन्होंने लिखा है।

> " इस निबंध के आरंभ मे ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आए है और उसे ज्ञानयोग के समकक्ष बता आए हैं।" (पृ. १६१)

इस तरह अपनी मान्यता (पूर्व मान्यता को) दोहराकर विषय की ओर आते हुए कहते है कि…" उपासना भावयोग का ही एक अंग है। (पृ १६१.) धार्मिक लोग जिसे उपासना कहते है, साहित्य वाले उसी को ' भावना ' कहते है। और आजकल के लोग उसी को कल्पना कहते हैं। शुक्लजी ने कल्पना को भावना के वजन पर स्वीकार किया है। इसीलिए अपने शीर्षक में उन्होने भावना या कल्पना लिखा है। है। उनके अनुसार कल्पना के दो प्रकार हैं। विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित है जब कि श्रोता या पाठक में ग्राहक। कल्पना को शुक्लजी इसी रूप मे स्वीकार करते है। योरपीय विद्वानो ने कल्पना के संबंध में विस्तृत विवेचन किया है। शुक्लजी उनसे अपना मतभेद व्यक्त करते हैं और कहते है कि " यह (कल्पना) काव्य का अनिवार्य साधन है पर है साधन ही, साध्य नहीं। " (पृ. १६२)

२ **चमत्कारवाद** अलंकार पर स्वतंत्र रूप से लिखते हुए भी इस शीर्षक को शुक्लजी ने अलग से स्थान दिया है । शुक्लजी चमत्कार को मनोरंजन की सामग्री मानते हैं । चमत्कार का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं :– "चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत-रस के आलम्बन में होता है । चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अन्तर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में) शब्दों की क्रीडा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।" (पृ. १६८) इस प्रसंग पर विस्तार से लिखने का एक कारण यह है कि चमत्कार को कविता में महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा । आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में उदाहरण दिए हैं । केशवदास की रामचन्द्रिका से उदाहरण दिए गए हैं। केशव से पूर्व मंडन और ठाकुर कवि के भी उदाहरण दिए हैं । मंडन और ठाकुर की जहाँ –(चमत्कार होने पर भी)– शुक्लजी प्रशंसा करते हैं, वहाँ केशवदास के सम्बंध में ऐसा नहीं कहते । सूरदास की भावप्रेरित वक्र उक्तियों की शुक्लजी प्रशंसा करते हैं । इस सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हुए शुक्लजी लिखते हैं– 'उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हम से कुन्तलजी का "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं।" (पृ. १७४) क्रोचे को शुक्लजी ने विलायती वक्रोक्तिवादी कहा है । इस तरह हम देखते हैं कि कविता में चमत्कार की बढ़ती प्रवृत्ति का शुक्लजी विरोध करते हैं ।

३. **कविता पर अत्याचार :** 'मनुष्यता की उच्चभूमि' में जैसे निबन्ध के पूर्वार्ध का समाहार है (मण्डन वाले पक्ष का या अपनी स्थापनाओं का), वैसे ही इस शीर्षक के अन्तर्गत उत्तरार्ध का समाहार है । 'भावना या कल्पना', 'मनोरंजन', 'सौंदर्य', 'चमत्कारवाद', 'कविता की भाषा' एवं 'अलंकार' इन सब शीर्षकों के अन्तर्गत वह क्रम नहीं है, जो पूर्वार्ध के शीर्षकों के अन्तर्गत है । पूर्वार्ध के शीर्षकों में शृंखलाबद्ध विवेचन है । यों कहना चाहिए कि 'कविता क्या है ?' का उत्तर प्रथम अनुच्छेद में देने के बाद उक्त उत्तर का विश्लेषण बौद्धिक दृष्टि से शृंखलाबद्ध रूप से पूर्वार्ध में किया गया है । उत्तरार्ध में दिए गए शीर्षकों का विवेचन स्वतंत्र है और

शुक्लजी की यह मान्यता है कि साध्य को ही साधन मान लेने के कारण कविता पर अत्याचार हुआ है । उत्तरार्ध के शीर्षक जरा ध्यान से देखे तो काव्य में प्रचलित सिद्धान्तों से सम्बन्धित शीर्षक हैं, ऐसा ज्ञात होगा। योरोपीय प्रभाव के कारण 'कल्पना' को कविता में बहुत महत्व दिया जा रहा था, 'मनोरंजन' शीर्षक का सम्बन्ध पंडितराज जगन्नाथ के रमणीयता से है तथा काव्य के लक्ष्यच्युत होकर 'आनन्द' लक्ष्य मान लेने से है; इसी तरह 'सौंदर्य' मे बाहर भीतर का झगडा है तो 'चमत्कारवाद' का सम्बन्ध वक्रोक्तिवाद एव क्रोचे के विलायती वक्रोक्तिवाद (अभिव्यजनावाद) से है । 'कविता की भाषा' मे शुक्लजी ने मौलिक रूप से कविता की कतिपय विशेषताओ का उल्लेख किया है । उत्तरार्ध मे यह एक शीर्षक ऐसा है जिसमें मौलिक रूप से कुछ कहा गया है । यह कहना स्थापना के रूप मे हैं, खण्डन के रूप मे नही । 'अलकार' शीर्षक में अलकार को साधन माना गया है । वैसे देखा जाय तो भाषा को भी एव भाषा की शक्तियों या विशेषताओं को भी शुक्लजी ने साधन ही माना है । जहाँ तक काव्य के इन उपकरणों का प्रश्न है, साधन रूप में इन सब की महत्ता शुक्लजी स्वीकार करते हैं । किन्तु इन्ही को साध्य मान लेने का वे विरोध करते है, साध्य मान लेने से कविता पर अत्याचार होता है । कविता अपने लक्ष्य से च्युत हो जाए, अपने प्रयोजन को भूल बैठे और अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे, यह शुक्लजी को पसद नही । लिखा है :—

> 'लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कही अपात्रों की – आसमान पर चढानेवाली – स्तुति कराई है, कही द्रव्य न देनेवालों की निराधार निन्दा । ऐसी तुच्छवृत्ति वालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नही ।' (पृ. १८५).

इस तरह उत्तरार्ध में 'कविता पर अत्याचार' शीर्षक के अन्तर्गत उत्तरार्ध के शीर्षको का समाहार है : यहाँ कोई नई बात नहीं कही गई है । शुक्लजी यहाँ कुछ आवेग में आ गये है और भावुकता में उन लोगो का विरोध करते हैं, जो कविता पर अत्याचार करते है ।

१८

निबंध का उपसंहार 'कविता की आवश्यकता' है, इस सम्बन्ध में ऊपर विस्तार मे लिखा गया है । अब यहाँ सम्पूर्ण निबंध का उपसंहार करते हुए यह कहना है कि आचार्य शुक्ल ने १९०९ ई. में जब निबंध लिखा था उस

समय उन्होंने कविता की आवश्यकता का अनुभव किया था उस समय के निबंध लेखन में समस्या का बोध तो उनके मन में था किन्तु समस्या का हल उनके पास उस समय नहीं था। कम से कम 'कविता क्या है ?' इस संबंध में उनकी स्पष्ट धारणा उस समय नहीं बनी थी। निबंध का पूर्वार्ध प्राय: १९३९ ई. का लिखा हुआ है। १९०९ ई. के निबंध में उत्तरार्धवाला भाग अधिक है। उस समय के उस भाग में १९३९ ई. के पूर्वार्ध की छाया नहीं है। कुल मिलाकर हम देखते हैं कि निबंध का प्रथम अनुच्छेद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'कविता की आवश्यकता' का अनुभव करने पर 'कविता क्या है ?' का उत्तर देते समय आचार्य शुक्ल कविता के लक्ष्य या प्रयोजन पर ही अधिक विचार करते जान पड़ते हैं। कविता की साधना को शुक्लजी ने भावयोग कहा है और उसे ज्ञानयोग और कर्मयोग के समकक्ष माना है। इस साधना-भावयोग की साधना-के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है, वही कविता है। शुक्लजी ने यदि कविता की परिभाषा की है तो यही की है। कहने में यह सब सरल होने पर भी इसको स्पष्ट करना और अपनी इस स्थापना को बृहत् रूप में बौद्धिक आधार प्रस्तुत करना कितना कठिन है, यह तब समझ में आएगा जब हम उनके पूरे निबंध को पढ़ लेते हैं और फिर उनकी इस स्थापना पर विचार करते हैं। कविता संबंधी शुक्लजी की सारी स्थापनाएँ 'भावयोग' से उद्भूत हैं। भावयोग की साधना, कविता की साधना है। अन्त में शुक्ल की इन मान्यताओं को इस रूप में लिखा जा सकता है :–

'कविता : मनुष्य की वाणी,
'हृदय की मुक्ति का साधन,
वही भावयोग है।
'भावयोग — कर्मयोग — ज्ञानयोग।
|
सभ्यता के आवरण में बद्ध है,
सभ्यता का बोध अर्थग्रहण है,
कविता अर्थग्रहण नहीं बिम्बग्रहण कराती है।
|
भाव के विषय (अ) नरक्षेत्र।
(आ) मनुष्येतर बाह्य सृष्टि।
और (इ) समस्त चराचर।

भाव के विषयों पर दृष्टि : काव्यदृष्टि ।

|

ज्ञान प्रसार (तथ्यो के कारण) भावप्रसार के मार्ग खोलता है। भावयोग के लिए आवश्यक तथ्य ' मार्मिक तथ्य ' हैं।

|

मार्मिक तथ्यों का उद्‌घाटन 'कवि कर्म' है।

|

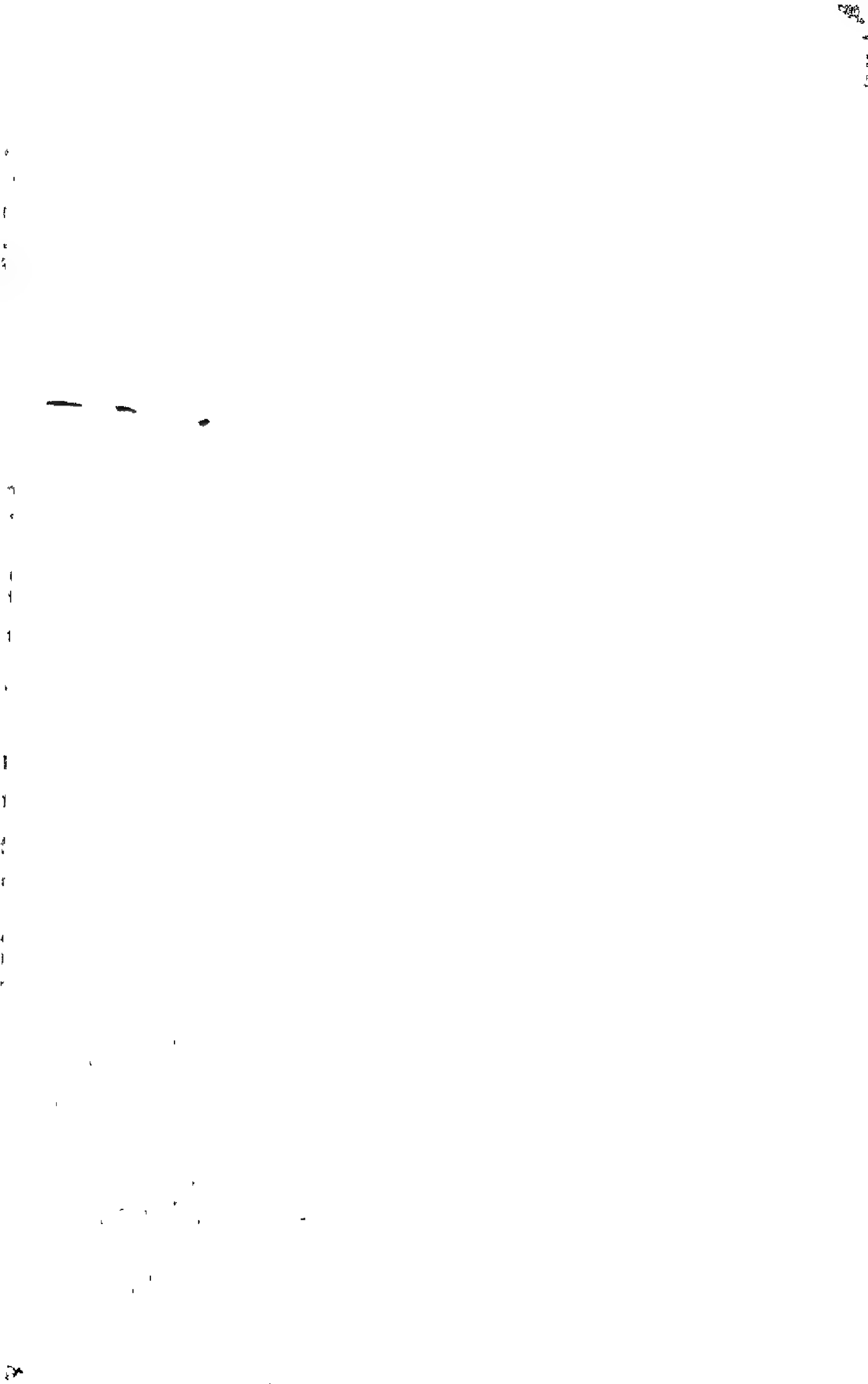
कर्म में प्रवृत्ति भावों के कारण होती है, हम ज्ञान के कारण कर्म में प्रवृत्त नही होते।

|

ज्ञान प्रसार से भाव प्रसार हो और भावप्रसार से कर्मप्रसार हो तो इससे भावयोग से सम्बन्ध रखनेवाली कविता का प्रयोजन सिद्ध होता है। और इस आधार पर मनुष्यता की उच्चभूमि तक पहुँचा जा सकता हैं।

: मनुष्यता की उच्चभूमि तक पहुँचना हृदय का मुक्त होना हैं और हृदय का मुक्त होना भावयोग से सभव है और इसके लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करते आई है, वही कविता है।

ये शुक्लजी की महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं का विश्लेषण है।



३. अभिरुचि और समीक्षा

आचार्य रामचंद्र शुक्ल समीक्षक के रूप में ख्यात हैं। एक समीक्षक होने के नाते उनकी समीक्षाओ पर उनकी अभिरुचि (साहित्यिक अभिरुचि) का प्रभाव पडा है। इस नाते चिंतामणि भाग १ के निबंधों का विश्लेषण शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि के आधार पर किया जा सकता है। यह प्रयास नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

२

चिंतामणि भाग १, मे समीक्षा के दृष्टिकोण से निबन्ध लिखे हुए नहीं है। तीन निबंध ऐसे मिलते है जिन्हें अन्य निबधो की तुलना मे अपेक्षाकृत समीक्षात्मक कहा जा सकता है। वे निबंध है। १. भारतेन्दु हरिश्चद्र २. तुलसी का भक्तिमार्ग और ३. मानस की धर्म-भूमि। ऐसा भी इसलिए कहा जा सकता है कि पहले दो निबन्धो के शीर्षक रचनाकारो से सम्बन्धित है और

तीसरे का सम्बन्ध स्वयं रचना से है। इन निबंधों के शीर्षक मनोविकारों से सम्बन्धित या काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों से सम्बन्धित नहीं हैं। इन निबंधों को छोड़कर अन्य निबन्धों में जहाँ-जहाँ शुक्लजी का वैयक्तिक स्वर उदाहरणों को देते हुए उभर आया है, वहाँ-वहाँ शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि व्यक्त होती दिखलाई देती है। उनकी इस विशेष साहित्यिक अभिरुचि ने उनकी समीक्षा को प्रभावित किया है। समीक्षक की अभिरुचि में समीक्षक का वैयक्तिक आग्रह होता है और इस आग्रह के कारण ही समीक्षक की साहित्यिक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यह विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

२

किसी समीक्षक में साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण समीक्षक द्वारा पठित साहित्यिक कृतियों के आधार पर होगा। जो रचनाएँ पढ़ते समय, रस-ग्रहण करते समय, समीक्षक को भा जाती हैं (अच्छी लगती हैं), वे रचनाएं समीक्षक के साहित्यिक संस्कार बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं। यहाँ तक कि पढ़ते पढ़ते जब मन किसी एक कवि एवं एक कृति पर आकर स्थिर हो जाए और वह विशेष कवि एवं वह विशेष रचना किसी समीक्षक की दृष्टि में आदर्श हो जाए तो समीक्षक अन्य रचनाओं का रसग्रहण करते समय अपने आदर्श कवि एवं आदर्श रचना के साथ मन ही मन उक्त रचना की तुलना करते रहता है और इस तरह करते समय वह साहित्यिक अभिरुचि का ध्यान अधिक रखता है। इस समय में काव्यशास्त्र के सिद्धांतों पर अपेक्षाकृत उसका ध्यान कम होता है। शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि को पहचानने के लिए हमें शुक्लजी को प्रिय लगनेवाली रचनाओं और प्रिय लगनेवाले कवियों पर विचार करना होगा। जो तीन निबंध चिंतामणि में हैं, उनमें से एक 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' कवि पर है और दूसरा निबंध उसी कवि की रचना 'मानस की धर्म-भूमि' पर है। इस आधार पर यह तो कहा जा सकता है कि शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि गोस्वामीजी के आधार पर निर्मित हुई है और गोस्वामीजी की रचनाओं में भी 'मानस' उनकी प्रिय पुस्तक है। कवि और कवि की रचना में शुक्लजी का ध्यान कवि के भक्ति-मार्ग और रचना की धर्म-भूमि पर रहा है। अपने साहित्यिक मूल्यांकन में शुक्लजी का नैतिक-बोध सदैव जाग्रत रहा है। उनके इस नैतिक-बोध ने साहित्य और शास्त्र (यहाँ काव्यशास्त्र) दोनों को प्रभावित किया है। इस नैतिक-बोध से मुक्त रहते हुए भी साहित्य की रसात्मक अनुभूति का बोध शुक्लजी में मिलता है। शुक्लजी ने इस प्रकार के तथ्यों को 'मार्मिक तथ्य' कहा है। यहाँ शुक्लजी

की साहित्यिक अभिरुचि समझने के लिए ऐसे उदाहरणो और ऐसे स्थलो का चुनाव किया जा रहा है, जिससे शुक्लजी के नैतिक-बोध की तुलना मे साहित्यिक-बोध अपेक्षाकृत अधिक झलक सके। (यह इसलिए कहा जा रहा है कि दोनो प्रकार के बोध को अलग करना कठिन है।) शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि को पहचानने के लिए ऐसे ही उदाहरणों का चुनाव किया गया है। यो कहना चाहिए कि नैतिक-बोध से मुक्त रहकर जहाँ-जहाँ शुक्लजी ने साहित्य की समीक्षा साहित्य होने के नाते की है, उसी आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

४

आचार्य शुक्ल ने मेघदूत के संबंध मे लिखा है :-

"मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत में मिली है, वह संस्कृत के और किसी काव्य मे नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोरम झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान मे अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूम कर वक्तृता दे या न दे चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश प्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सब से भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम--दृष्टि." (पृ. १४९)

इन पंक्तियो मे मेघदूत के प्रति शुक्लजी के जो विचार व्यक्त हुए है, उनमे शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि का बोध नैतिक-बोध की तुलना मे अपेक्षाकृत अधिक है। यही नही, यहाँ तो साहित्यिक-बोध, नैतिक बोध से बाजी मार ले गया है। हम देखते हैं कि साहित्यिक-बोध के आधार पर नैतिक-बोध परखा जा रहा है। चन्दा इकठ्टा करना, देशवासियों की आमदनी का औसत निकालना या घूम-घूम कर वक्तृता देना, ये सब देशप्रेम के द्योतक कार्य है। संभवत: इस प्रकार के कार्य में लोग देशप्रेम का भाव समझें किंतु शुक्लजी इस का यहाँ विरोध करते है। देशप्रेम शुक्लजी को मान्य है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति और व्यवहार दोनों की ओर शुक्लजी का ध्यान गया है। मेघदूत में अभिव्यक्ति है, व्यवहार की बात वहाँ नही है। इस अभिव्यक्ति पर शुक्लजी रीझ गए है और इस अभिव्यक्ति को उन्होने व्यवहार से अधिक महत्त्व दिया है। महत्त्व ही नही दिया, न्यायसंगत माना है। उनका यह झुकाव मेघदूत को साहित्यिक महत्त्व देने के नाते है।

५

मेघदूत के उक्त उदाहरण से यह ज्ञात हो गया कि रचना का मूल्यांकन करने में शुक्लजी की दृष्टि रचना में पाए जाने वाले साहित्यिक गुणों पर रहने पर भी अप्रत्यक्ष रूप में वे साहित्य के नैतिक-पक्ष पर भी विचार करते रहते हैं। कहीं उन्होंने इस प्रकार के विचार खुलकर व्यक्त किए हैं और कहीं व्यक्त नहीं कर पाए। जहाँ उन्होंने इस प्रकार से अपने विचार व्यक्त नहीं किए वहाँ भी उनका ध्यान साहित्य के नैतिक-पक्ष पर है। यह बात शुक्लजी के निबन्धों को ध्यान से पढ़ने से समझ में आ जाती है। यह होने पर भी रचनाओं के साहित्यिक मूल्य को शुक्लजी ने पहचाना है। किसी रचना की विचारधारा से मतभेद होने पर भी उस रचना के साहित्यिक मूल्यांकन में शुक्लजी ने अपनी साहित्यिक ईमानदारी का परिचय दिया है। इसीलिए हम देखते हैं कि रसखान, घनानन्द, सुमित्रानन्दन पन्त, भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र, देव एवं अन्य अनेक कवियों की रचनाओं के उदाहरण चिन्तामणि में देते समय इन कवियों की रचनाओं के साहित्यिक महत्त्व को शुक्लजी ने स्वीकारा है।

६

अब हम शुक्लजी की साहित्यिक मान्यता का विश्लेषण करें। साहित्य में हृदय बद्ध न रहकर मुक्त होना चाहिए, ऐसी शुक्लजी की मान्यता है। सभ्यता के आवरणों में हृदय बद्ध है। यह आवरण जितना जटिल होता जाएगा, कविता की (साहित्य की) आवश्यकता उतनी ही तीव्र होगी। साहित्य (कविता) हृदय की मुक्ति का साधन है। अतः किसी रचना को पढ़कर हृदय मुक्त हो जाता है, तो उस रचना में साहित्यिक गुण है, ऐसा मान लिया जा सकता है। किसी रचना की विचारधारा से मतभेद होने पर भी यदि रचना में हृदय को मुक्त करने का गुण है तो उस रचना के साहित्यिक महत्त्व को स्वीकार किया जा सकता है। विचारधाराकी बात हृदय की मुक्ति के अनन्तर उठनेवाली है। वह बाद में सोची गई बात है। दोनों का मेल हो जाए तो उत्तम मानना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने दोनों में मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस मेल को स्थापित करने में जहाँ उन्हें कठिनाई हुई वहाँ उन्होंने अपना मतभेद भी व्यक्त किया है। मतभेद होने पर भी रचना के साहित्यिक मूल्य को स्वीकार किया गया तो केवल इसीलिए कि रचना से गुजरने पर हृदय मुक्त होता है।

शुक्लजी प्रकृति वर्णन पर मुग्ध होते है। जिन रचनाओं मे प्रकृति वर्णन मिलता है, उनकी (उन रचनाओं की) शुक्लजी ने प्रायः प्रशंसा की है। प्रकृति प्रेम को अत्यधिक महत्त्व देने का एक कारण यह भी है कि संस्कृत काव्यो मे शुक्लजी ने प्रकृति वर्णन का अनन्यतम रसास्वादन किया है। शुक्लजी का साहित्यिक-संस्कार संस्कृत काव्यों के आधार पर हुआ है। बाद मे हिन्दी रचनाओ में उन्हें वह बात नही मिली तो रह-रह कर मन कचोट उठता था कि हिन्दी में वह रंग नही जो संस्कृत रचनाओं मे है। शुक्लजी ने लिखा है :-

" प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपो में रमाने वाले वर्णन हमे वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते है। पिछले खेवे के कवियों ने मुक्तक-रचना में तो प्राकृतिक वस्तुओ का अलग-अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबंध रचना मे जो थोडा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। " (पृ. १५०)

इस कथन से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी का साहित्यिक संस्कार संस्कृत की रचनाओं के आधार पर हुआ है। साथ ही प्रकृति के रमानेवाले वर्णन संस्कृत में हिंदी की अपेक्षा अधिक मिलते हैं।

प्रकृति-प्रेम को शुक्लजी की साहित्यिक कमजोरी भी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण दिए जा रहे हे।

१) देते हैं घुडकी यह अर्थ ओज-भरी हरि,
जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह ?
पर प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे, नर
क्रीडामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी दास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नही तू सह।
फूली फली उनकी उमंग उपकार की तू,
छेंकता है जाता, हम जायें कहाँ तू ही कह।
(पृ. १५३)

२) क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं,
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।

क्वचित क्वचित्पर्वतसनिरुद्ध,
    रूपं यथा दान्तमहार्णवस्य ।
श्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
    र्नव अम्ब पर्वत–धातुमाम्रम्
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
    शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥

(पृ. ११५.)

३) तरनि तनुजा तट तमाल तरुवर बहु छाए ।
    झुके कूल सो जल परसन हित मनहुँ सुहाए ॥
    किधौ मुकुर में लखत उझकि सब निज–निज सोभा ।
    कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥
मनु आतप–वारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ।
कै हरि–सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत ॥

(पृ. ११९.)

ये तीनों ही उदाहरण प्रकृति वर्णन से सम्बन्धित हैं। प्रथम उदाहरण के सम्बन्ध में शुक्लजी लिखते हैं –'यदि कोई बन्दर हमारे सामने से खाने–पीने की चीज उठा ले जाय और किसी पेड़ के ऊपर बैठा–बैठा हमें घुड़की दें, तो काव्यदृष्टि से हमें ऐसा मालूम हो सकता है कि ' (पृ. १५२) यहाँ काव्यदृष्टि शब्द ध्यान देने योग्य है। इस उदाहरण को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे शुक्लजी 'तथ्यों की मार्मिक व्यंजना' की प्रतीत कराना चाहते हैं। इस प्रकार की प्रतीति को उन्होंने 'काव्यानुभूति' कहा है। जहाँ तक काव्यानुभूति की बात (सैद्धान्तिक रूप से) कही गई है, वह ठीक है। किन्तु उदाहरण को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऊपर लक्षण बतलाकर बाद में उदाहरण दिया गया है। उदाहरण में सहज काव्यानुभूति का बोध नहीं है। इस उदाहरण से शुक्लजी का दृष्टिकोण (प्रकृति–वर्णन के प्रति) व्यक्त होता है। अपने निबन्धों में प्रकृति-वर्णन की महिमा बतलाने के लिए गद्य रूप में (खण्ड-खण्ड ही क्यों न हों) उदाहरणों की माला शुक्लजीने प्रस्तुत की है। इस प्रकार के अंशों को लिखते समय शुक्लजी अत्यधिक भावुक हो गए हैं। अपने साहित्यिक मोह को (अपनी विशेष अभिरुचि को) वे संवरित नहीं कर सके हैं। गद्य रूप में प्रस्तुत प्रकृति –वर्णन का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :–

'पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वातविलोडित जल–प्रसार में क्षोभ और आकुलता का विकीर्ण–घन खण्ड मण्डित रश्मि–

रंजित साध्य-दिगंचल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड के प्रचण्ड झोंकों से उग्रता और उच्छृखलता का, बिजली की कँपानेवाली कडक और ज्वालामुखी के ज्वलत स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति योगी या कवि इनके दृष्टा मात्र होते है।' (पृ. १५५).

गद्य रूप मे लिखा हुआ यह भाग प्रकृति-वर्णन की काव्यमहिमा दिखलाने वाला है। शुक्लजी ने इन्हे 'विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ, भी कहा है। उदाहरणों के रूप में भावुकता में शुक्लजी गद्य-खण्डों में प्रकृति के जो चित्र प्रस्तुत करते हैं, वे चित्र निश्चित ही प्रथम-उदाहरण (देते हैं घुड़की ..... कवित्त) से अच्छे हैं। बन्दर के इस उदाहरण में प्रयोजन और नैतिक-बोध हावी हो गया है। इसीलिए सहज काव्यानुभूति का बोध नही होता।जहाँ तक सिद्धान्त की बात है और शुक्लजी समझाकर लिखते हैं, वहाँ तक ठीक है। इस उदाहरण से शुक्लजी के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। ;

दूसरे और तीसरे उदाहरणों का सम्बन्ध भी प्रकृति वर्णन से है। ये दोनो ही उदाहरण 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, निबन्ध के हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर लिखा हुआ यह निबन्ध एक प्रकार से शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि और समीक्षा को समझने के लिए उत्तम उदाहरण है। हम देखते हैं कि 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए भी जहाँ साहित्यिक मूल्यांकन की बात आ जाती है, वहाँ स्पष्ट रूप से लिखने में शुक्लजी झिझकते नहीं। इस निबन्ध के आरम्भ में भारतेन्दु के भाषा-सस्कार एवं देशभक्ति का विवेचन शुक्लजी ने किया है। भारतेन्दु का यह कार्य निस्सदेह सराहनीय है। यों कहना चाहिए कि प्रयोजन की दृष्टि से (काव्य के प्रयोजन) भारतेन्दु के कार्य शुक्लजी की रुचि एव आदर्श के अनुकूल थे। अतः इस सम्बन्ध मे उन्होंने भारतेन्दु की खुलकर प्रशसा की हैं। भारतेन्दु की प्रशसा मे शुक्लजी ने लिखा है- "वे सिद्ध-वाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी मे शृगार रस के ऐसे रसपूर्ण और मर्मस्पर्शी कवित्त-सवैये निकलते थे जो उनके जीवन काल में ही इधर-उधर लोगों के मुंह से सुनाई पड़ने लगे थे।और दूसरी ओर स्वदेश प्रेम से भरे हुए उनके लेख और कविताएँ चारो ओर देश के मगल का मत्र सा फूंकती थी।" (पृ. १९२.) भारतेन्दु की प्रशसा मे यह सब कहने के बाद शुक्लजी

साहित्यिक मूल्याकन में प्रवृत्त होते हैं। (अपनी साहित्यिक अभिरुचि के अनुसार)। कवि रूप में जब भारतेन्दुजी का मूल्याकन करने लगते हैं तो फिर उन्हे सस्कृत के कवि याद आ जाते है और भारतेन्दुजी के निबन्ध मे अपनी साहित्यिक अभिरुचि को व्यक्त करने की दृष्टि से वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास तथा भर्तृहरि के उदाहरण देते हैं। इन उदाहरणों को देते समय सच्चे कवि की विशेषता बतलाते जाते है। इस प्रकार से कवि का मूल्याकन करने के लिए (कवि रूप मे) वे लिखते हैं– "अब यह देखना है कि यदि वे (भारतेन्दु) कवि थे तो किस ढंग के थे?" (पृ. १९४) यह लिखने के बाद उन्होने कवियों के तीन ढग बतलाए (१) नर-प्रकृति के वर्णन मे लीन रहनेवाले, (२) बाह्य-प्रकृति के वर्णन मे लीन रहनेवाले और (३) दोनों मे समान रुचि रखनेवाले। शुक्लजी का विश्वास है (जिसे उचित कहा जा सकता है) कि पिछले वर्ग मे (तीसरे वर्ग में) वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति इत्यादि सस्कृत के प्राचीन कवि ही आते हैं। इस प्रसग मे शुक्लजी सस्कृत काव्य और हिन्दी काव्य दोनो की तुलना करने लगते हैं। इस तुलना में हिन्दी काव्य को शुक्लजी 'भाषा कवियो' का काव्य कहते है। बाबू हरिश्चन्द्र को वे भाषा-कवि का अपवाद नही मानते। भाषा-कवि से सस्कृत कवियो की दृष्टि विस्तृत थी, ऐसी शुक्लजी की मान्यता है। शुक्लजी स्पष्ट रूप मे लिखते हैं –" बात यह थी कि हिन्दी-साहित्य का उत्थान ही ऐसे समय मे हुआ जब लोगों की दृष्टि बहुत कुछ संकुचित हो चुकी थी। वाल्मीकि, कालिदास, और भवभूति के आदर्श लोगों के सामने से हट चुके थे।" (पृ. १९५.) इस प्रसग में सूर तुलसी के सम्बन्ध में केवल इतना कहते हैं – " सूर और तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि रीतिकाल के शृगारी कवियों ने उसके पैर छानकर उसे गन्दी गलियों मे भटकने के लिए छोड़ दिया..." (पृ. १९७.) और इसी प्रसग में अपने विषय की ओर आते हुए (भारतेन्दु के सम्बन्ध में लिखते हुए) स्पष्ट रूप से लिखते हैं – "बाबू हरिश्चन्द्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छेड नए-नए सस्कार उत्पन्न किए पर उन्होने भी प्रकृति पर प्रेम न दिखाया। उनका जीवन-वृत्तान्त पढने से भी पता लगता है कि वे प्रकृति के उपासक न थे। उन्हें जंगल, पहाड़, नदी आदि को देखने का उतना शौक न था। वे अपने भाव 'दस तरह के आदमियो के साथ उठ-बैठकर' प्राप्त करते थे। इसी से मनुष्य की भीतरी-बाहरी वृत्तियाँ अंकित करने में ही वे तत्पर रहे हैं और नाटकों की ओर उन्होंने विशेष रुचि दिखाई है।" (पृ. १९७.)

अब हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र निबन्ध से दिए गए दोनों उदाहरणों का विवेचन कर सकते हैं । एक उदाहरण (दूसरा) वाल्मीकि का है और बाद का (तीसरा) भारतेन्दुजी का है । वाल्मीकि के उदाहरण में 'वर्षा-वर्णन' है । इस उदाहरण को देने के बाद शुक्लजी अत्यधिक भावुक होकर कहते है– "उपर्युक्त वर्णन में किस सूक्ष्मता के साथ कविकुलगुरु ने ऐसे प्राकृतिक व्यापारों का निरीक्षण किया है जिनको बिना किसी अनूठी उक्ति के गिना देना ही कल्पना का परिष्कार और भाव का संचार करने के लिए काफी है .. " (आगे कालिदास और भवभूति के सम्बन्ध मे लिखा गया है) (पृ. १९५) ऐसे स्थलों पर शुक्लजी तर्क न देते हुए भावुक हो जाते है और कहने लगते है–"भवभूति का तो कहना ही क्या है, देखिए" (पृ. १९५.)इस तरह यह देखा जा सकता है कि जिन कवियों पर और जिन रचनाओं पर शुक्लजी मुग्ध हो जाते है, उस का उदाहरण देने का लोभ सवरण नहीं कर सकते । और उदाहरण देते समय 'कहना ही क्या ?' कहने लगते हैं । ऐसे स्थलों पर (जहाँ वे बहुत मुग्ध हो जाते है) शुक्लजी ने कलम-तोड़ भाषा का प्रयोग किया है । भारतेन्दुजी का उदाहरण देने मे पूर्व शुक्लजी लिखते हैं– 'चन्द्रावली नाटिका में एक जगह यमुना तट का वर्णन आया है, पर वह भी परम्पराभुक्त (Conventional) ही है । उसमें उपमानो और उत्प्रेक्षाओ आदि की भरमार इस बात को सूचित करती है कि कवि का मन प्रस्तुत प्राकृतिक वस्तुओं पर रमता नहीं था, हट-हट जाता था ।' (पृ. १९८.) यह लिखने के बाद 'तरनि तनूजा तट ..' का उदाहरण दिया गया है ।

८

ऊपर शुक्लजी के प्रकृति–प्रेम का सक्षेप मे विवेचन किया गया है । चिंतामणि भाग १ के निबंधों मे अनेक स्थानो पर उनका यह प्रकृति–प्रेम व्यक्त हुआ है । अपने बौद्धिक एवं शास्त्रीय विवेचन के बीच भी स्थान निकाल कर शुक्लजी ने अपने इस प्रेम को व्यक्त किया है । शुक्लजी के इस प्रकृति–प्रेम को शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि का एक मापदण्ड कहा जा सकता है । हिंदी मे प्रकृति–प्रेमी कवि जो जो मिले है, उनकी शुक्लजी ने खुलकर प्रशसा की है । शुक्लजी के इस प्रकृति-प्रेम का उनकी साहित्यिक अभिरुचि के संदर्भ में विवेचन सभव है । यह विवेचन शुक्लजी की साहित्यिक मान्यता को स्पष्ट करते हुए किया जा सकता है । इसे स्पष्ट करने से उनकी समीक्षाएँ (कवियों और रचनाओं की) अधिक स्पष्ट होंगी । यह प्रयास नीचे किया जा रहा है ।

९

आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपो और व्यापारो को भावना के सामने लाकर कविता बाहृय–प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त:प्रकृति का सामजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।" (पृ १४५–१४६) इन पक्तियो को शुक्लजी की साहित्यिक मान्यता कहा जा सकता है। इस मान्यता के सदर्भ में शुक्लजी ने कवियों की एव उनकी रचनाओं की समीक्षाएँ लिखी हैं।

बाहृय प्रकृति एवं मनुष्य की अन्त.प्रकृति इन दोनों के सामंजस्य पर शुक्लजी विशेष बल देते है। इन प्रकृतियो के सामंजस्य में (कविता में) बिंवग्रहण होगा तो भावप्रसार होगा और भाव प्रसार होगा तो हृदय मुक्त होगा। यह तो शुक्लजी की साहित्यिक मान्यता का विश्लेषण हुआ। शुक्लजी ने अपनी (इस) मान्यता के अनुरूप (उन्हें अच्छे लगनेवाले) काव्य से अनेक उदाहरण दिए है और उदाहरणों की समीक्षाएँ की हैं। इन उदाहरणों मे यदि यह मान्यता ठीक बैठती है, तो यह माना जा सकता है कि साहित्यिक –अभिरुचि, साहित्यिक–मान्यता के अनुरूप है।

साहित्यिक–अभिरुचि की दृष्टि से देखें तो चितामणि भाग १ मे ही बाहृय–प्रकृति के अनेक उदाहरण मिलते है। कविता रूप मे (अन्य कवियो के) एव गद्य–रूप मे अनुच्छेद के अनुच्छेद शुक्लजी ने स्वयं लिख डाले है। गद्य–रूप मे दिए गए उदाहरणो में (अवतरणों मे) शुक्लजी ने बाहृय–प्रकृति और मनुष्य की अन्त.प्रकृति का सामजस्य दिखलाया है। कवियो के उदाहरण देते समय शुक्लजी को इस प्रकार के उदाहरण (उनकी साहित्यिक अभिरुचि के अनुकूल) सस्कृत कवियों में ही मिले। हिन्दी कवियो में इस प्रकार की प्रवृत्ति का अभाव उन्हे खलता है। ऐसी स्थिति मे जहाँ कहीं (हिंदी में) उन्हें किसी कवि में किसी रूप मे क्यों न हों, यदि प्रकृति का वर्णन मिल गया तो शुक्लजी ने उसका उल्लेख किया और तदनुरूप अपने बिचार (बाहृय प्रकृति के प्रति कवियो के अपनाए गए दृष्टिकोण को) व्यक्त किए।

१०

मनुष्य की अन्त प्रकृति पर विचार किया जा सकता है। शुक्लजी के ही शब्दों का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि मनुष्य की अन्त.प्रकृति जहाँ भी व्यक्त होगी, वहाँ हृदय मुक्त होगा। अन्त:प्रकृति के अंतर्गत मनुष्य

की सहज प्रवृत्तियाँ आती है। सहज प्रवृत्तियाँ आवेगों के द्वारा अभिव्यक्त होती रहती है। इस अभिव्यक्ति पर सभ्यता का आवरण है। सभ्यता के कारण हृदय बद्ध हैं। मनुष्य के 'मूल रूप' और 'मूल व्यापार' (दोनों ही शब्द शुक्लजी के ही है) को काव्य का आलंबन बनाना या इन रूपो पर 'और और लक्ष्यों की' जो स्थापनाएँ होती गई हैं, उन लक्ष्यों से मुक्त होकर हृदय की वृत्तियों से (मनुष्य की अन्तःप्रकृति से) सीधा संबंध रखनेवाले रूपों और व्यापारों का प्रत्यक्ष करना मनुष्य की अन्तःप्रकृति का उद्घाटन करना है। इस उद्घाटन मे बाह्य-प्रकृति का सामंजस्य हो, ऐसा शुक्लजी का आग्रह है। इस दृष्टि से शुक्लजी ने अपनी अभिरुचि (साहित्यिक अभिरुचि) के अनुकूल जो उदाहरण दिए हैं, उनमें से कुछ नीचे दिए जा रहे है। :-

१) सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ।
(पृ. ४२ 'श्रद्धा-भक्ति' निबंध और पृ. २०३
'तुलसी का भक्ति-मार्ग' निबंध।)

२) मानुष हौं तो वही 'रसखान' बसौ संग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद के धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो किए-हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जौ खग हौ तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब के डारन।
(पृ. ४१ 'श्रद्धा-भक्ति' निबंध)

३) वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन की परतीति हैं, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है।
(पृ ८६ 'लोभ और प्रीति' पृ. १६९, कविता क्या है? निबंध)

यहाँ केवल तीन उदाहरण दिए गए है। इनमें से पहला और तीसरा उदाहरण दो-दो स्थलों पर आए हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि शुक्लजी को ये उदाहरण बहुत ही प्रिय हैं। रसखान वाला (दूसरा उदाहरण) उदाहरण भी शुक्लजी की रुचि का है।

इन उदाहरणों मे मनुष्य की अन्तः प्रकृति का उद्घाटन हुआ है। प्रथम उदाहरण तुलसी की विनयपत्रिका का है। गोस्वामीजी राम के (अपने नायक-

आदर्श नायक-भगवान राम के) शील स्वभाव पर मुग्ध हैं और तन्मय होकर मुदितावस्था में, पुलकित गात स्थिति में नयन जलपूरित हैं। गोस्वामीजी की जो स्थिति है (जिसे वे अनुभव कर रहे हैं), उस स्थिति में यदि (राम के शील स्वभाव को सुनकर या जानकर) कोई नहीं पहुँचता तो गोस्वामीजी ने कहा है, सो नर (वह मनुष्य) खेहर खाउ। एक प्रकार से ऐसे मनुष्य तुच्छ हैं। इतना कहने से बहुत संभव है कि इसे कोई 'कोरा उपदेश' मान ले और इन पंक्तियों में मनुष्य की अन्त: प्रकृति का दर्शन न करे। अन्त प्रकृति का दर्शन करने के लिए 'शील' शब्द का अर्थ समझना बहुत आवश्यक है। 'सुनि-सीतापति सील सुभाउ' तुलसी की इस पंक्ति का 'सील' (शील) शब्द आचार्य शुक्ल ने पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त किया है (यद्यपि अर्थ वही है जो तुलसीदास को मान्य रहा है)। शुक्लजी ने 'शील दशा' की व्याख्या करते हुए लिखा है-'किसी भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने पर वह एक ही आलम्बन से बद्ध नहीं रहता। समय समय पर भिन्न भिन्न आलम्बन ग्रहण करता रहता है। यदि राग या लोभ प्रकृतिस्थ हो गया है तो वह किसी एक ही व्यक्ति या वस्तु के प्रति रति या प्रीति के रूप में परिमित न रहेगा, अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं की ओर लपका करेगा और अपने आश्रय को प्रेमी, रसिक अथवा लोभी, लपट आदि लोक से कहलाएगा... (इसी तरह अन्य भावों के लिए भी उदाहरण दिए गए हैं) ...'[1] इन उदाहरणों के पश्चात् 'शील दशा' की परिभाषा शुक्लजी इस रूप में लिखते हैं - 'भाव के इस प्रकार (इस प्रकार को समझाने के लिए इससे पूर्व का अंश लिखा गया है) प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को हम 'शील दशा' कहेंगे।'[2] अब इस शील स्वभाव का उद्-घाटन तुलसी के उक्त पद में (राम के शील स्वभाव का) हुआ है, उसका एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :-

सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम-बिधु-बदन रिसौं हैं सपनेहुँ लख्यो न काउ।
(विनयपत्रिका पद संख्या १००)

राम का प्रकृत स्वभाव है 'सदैव प्रसन्न रहना और औरों को प्रसन्न रखना।' राम किसी पर क्रोध नहीं करते। उनका यह भाव उनके स्वभाव का प्रकृत लक्षण है। राम का यह सहज गुण है। इसे मनुष्य की अन्तःप्रकृति कह सकते हैं। उनके इस स्वभाव की घोषणा वे लोग करते हैं जो राम के साथ

१. रस मीमांसा-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ. १८२-१८३.
२. -वही पृ. १८३.

शैशवावस्था से है माता, पिता, बंधु, गुरु, सेवक तथा सचिव इन में से किसी से भी पूछ लिया जाय कि राम का स्वभाव कैसा है? राम को क्रोध कब आता है तो सभी एक मत होकर यह कहेंगे कि राम का चन्द्रवदन किसी भी समय क्रोध युक्त नहीं देखा गया। स्वप्न में भी इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती। आलम्बन बदलने पर भी भाव की प्रकृत दशा में अन्तर नहीं आता। सब के साथ उनका व्यवहार समान है। इसी तरह राम के जीवन से अनेक प्रसंगों में राम के शील स्वभाव का वर्णन तुलसीदासजी ने उक्त पद में किया है। इस शील स्वभाव को सुनकर किसी का भी हृदय मुक्त हो सकता है, मन मुदित होगा, तन पुलकित होगा और नयन जलपूरित होंगे। यह स्थिति हृदय के मुक्त होने की है मनुष्य की अन्त:प्रकृति का उद्‌घाटन करनेवाला (प्रकृत स्वभाव को दिखलानेवाला) ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। नायक प्रभु रामचंद्र है, कवि कविकुलचूडामणि गोस्वामी तुलसीदास है और समीक्षक आचार्य प्रवर रामचंद्र शुक्ल है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

मनुष्य की अन्त:प्रकृति का उदाहरण ऊपर देख लिया गया। रसखान-वाला दूसरा उदाहरण (मानुष हौ तो ………") अन्त:प्रकृति के साथ बाह्य प्रकृति के सामंजस्य की दृष्टि से उत्तम उदाहरण है। इस उदाहरण में प्रकृति-वर्णन (बाह्य-प्रकृति का वर्णन) भी है। इस उदाहरण में रसखान की (कवि की) अन्त:प्रकृति का उद्‌घाटन हुआ है। रसखान हर स्थिति में कृष्ण (अपने प्रेमी रूप में---प्रेमलक्षणा-भक्ति कह सकते है) का साहचर्य चाहते हैं। साथ रहने में जो सुख है, वह सुख रसखान की आन्तरिक इच्छा (रसखान की अन्त:प्रकृति) का द्योतक है। वह रसखान के भाव की प्रकृत दशा है। सवैये की चारों पंक्तियों में प्रकृति के आलंबन बदले हैं। 'मानुष', 'पशु', 'पाहन' और 'खग' ये चारों आलंबन अलग अलग है। आलंबन बदलने पर भी भाव की प्रकृत दशा में अन्तर नहीं आता। भाव की प्रकृत दशा कृष्ण के साहचर्य से संबंध रखनेवाली है। यह प्रकृत दशा 'साहचर्य-सम्भूत रस' (शुक्लजी के शब्दों में) से संबंधित है। प्रत्येक आलम्बन की स्थिति में प्रकृति का एक अलग वातावरण सामने आता है। यह वातावरण बाह्य-प्रकृति से संबंधित है। इस बाह्य-प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त:-प्रकृति का सामंजस्य दिखलाया गया है। इस सामंजस्य को शुक्लजी चाहते है। शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि में यह उदाहरण ठीक बैठता है और उनकी साहित्यिक मान्यता के अनुरूप है।

तीसरा उदाहरण ठाकुर का है। यह उदाहरण दो स्थानों पर 'लोभ और प्रीति' निबंध में (चिंतामणि में ही) दिया गया है एवं 'कविता क्या है?"

निबंध में। यह उदाहरण मनुष्य की अन्त:प्रकृति को समझने के लिए काफी अच्छा उदाहरण है। शुक्लजी ने इस उदाहरण को देने से पूर्व इस उदाहरण में व्यक्त मनुष्य की अन्त:प्रकृति को समझाया भी है। ठाकुर के इस सवैये में 'प्रेम' की सहज अभिव्यक्ति है। सहज अभिव्यक्ति होने के नाते मनुष्य की अन्त:प्रकृति एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। यह सहज अभिव्यक्ति सवैये में बिंब रूप में है। शुक्लजी की इस सवैये के सबन्ध में टिप्पणि यह है- "इस प्रवृत्ति (सवैये में व्यक्त प्रवृत्ति) के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है। लोभी या प्रेमी, सान्निध्य या सम्पर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या सम्पर्क के लिए तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या सम्पर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक उसमें भी सान्निध्य या सम्पर्क की इच्छा उत्पन्न न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अन्तर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अत: प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलाने के लिए न्योता देना है।" (पृ ८७) यह सारा विश्लेषण 'लोभ और प्रीति' निबंध में है, जब कि 'कविता क्या है?' निबंध में केवल यह लिखा गया है – "ठाकुर की यह अत्यंत स्वाभाविक वितर्क-व्यंजना देखिए" (पृ १६९) कविता में पाए जानेवाले चमत्कारवाद का विरोध करते हुए, कविता का अत्यंत स्वाभाविक वितर्क व्यंजना से सम्बन्धित अंश उन्होंने इसी सवैये के रूप में प्रस्तुत किया है।

११

मनुष्य की अन्त:प्रकृति से सम्बन्धित तीन उदाहरण ऊपर दिए गए हैं। इन में से दो उदाहरण (प्रथम दो उदाहरण) तो ऐसे हैं, जिन्हें शुक्लजी की साहित्यिक मान्यता और नैतिक मान्यता दोनों दृष्टि से ठीक माना जा सकता है। तीसरा उदाहरण (ठाकुर का सवैया) साहित्यिक मान्यता के अनुकूल है। इस उदाहरण को नैतिक मान्यता में स्थान मिलेगा ही, यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में हमें शुक्लजी के ऐसे उदाहरणों की खोज करनी है, जो उनकी नैतिक मान्यता के दायरे में न आने पर भी साहित्यिक महत्त्व रखने के नाते शुक्ल की समीक्षा में स्थान पा गए हैं।

शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि को समझने के लिए हमें उनके रीतिकालीन कविता के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण को देखना चाहिए। जहाँ

तक नैतिक मान्यताओं का प्रश्न है, रीतिकालीन साहित्य शुक्लजी के नैतिक दायरे में नहीं आता। इस दृष्टिकोण को शुक्लजी ने स्पष्ट रूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र निबन्ध में व्यक्त कर दिया है। लिखा है – 'सूर और तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर खड़ा किया ही था कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने उसके पैर छानकर उसे गन्दी गलियों में भटकने के लिए छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल के सुर्ख बिछौने गड़ने लगे ... आदि आदि।' (पृ. १९७.) शुक्लजी के ये विचार शुक्लजी की नैतिक मान्यता को अधिक व्यक्त करते हैं, साहित्यिक मान्यता को अपेक्षाकृत इन पंक्तियों में कम स्थान मिला है। साहित्यिक मान्यता की दृष्टि से यदि देखें तो शुक्लजी ने रीतिकाल के अनेक कवियों का साहित्यिक मूल्यांकन किया है और उस मूल्यांकन को आज भी मान्यता प्राप्त है। कोई कृति या कोई कवि यदि समीक्षक की 'नैतिक मान्यता' के विपरीत हो तो उसके साहित्यिक महत्व को अस्वीकार कर देना समीक्षक के दायित्व से मुकर जाना है। हम देखते हैं कि शुक्लजी ऐसा नहीं करते। देव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द, मडन, पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियों के साहित्यिक महत्व को शुक्लजी ने स्वीकार किया है। इन सब से सम्बन्धित उदाहरण चिन्तामणि भाग १, में मिल जाएँगे। इन उदाहरणों में विवेचन का आधार साहित्यिक है। बिहारी के वियोग वर्णन का विरोध, साहित्यिक विरोध है। इसी तरह केशवदास का विरोध (रामचंद्रिका के उद्धृत अंशों का विरोध) भी साहित्यिक विरोध है। इस तुलना में ठाकुर और देव का समर्थन साहित्यिक समर्थन है।

१२

और अन्ततः यह कहना है कि एक आदर्श समीक्षक के गुण आचार्य शुक्ल में मिलते हैं। आदर्श गुण यह कि विपरीत विचारधारा से सबंध रखनेवाली रचनाओं का शुक्लजी ने साहित्यिक इमानदारी से अध्ययन किया और इस अध्ययन के उपरान्त ही उन्होंने अपना साहित्यिक निर्णय दिया। शुक्लजी ने किसी कवि या किसी रचना पर यों ही चलती सम्मति नहीं दी है। सच्चाई तो यह है कि जिन अंशों का खडन शुक्लजीने किया है, उसका अध्ययन उन्होंने अधिक इमानदारी से किया है। इस अध्ययन में शुक्लजी को कवियों एवं कवियों की रचनाओं मे साहित्यिक गुण भी मिले है। ऐसे गुणों की उन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा भी की है। चिंतामणि भाग १, में अनेक उदाहरण शुक्लजी की साहित्यिक मान्यता के विपरीत बैठनेवाले भी है। इन उदाहरणों को देने में शुक्लजी का एक उद्देश यह रहा है कि कविता के नाम पर (साहित्य के नाम पर) जो कुछ चल रहा है, जो प्रवृत्तियाँ प्रचलित रही

हैं और साहित्यिक मान्यताओं का भ्रम व्याप्त है वह दूर हो एक समीक्षक को अपनी साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना के लिए प्रचलित साहित्यिक मान्यताओं का कड़ा विरोध करना पड़ता है। शुक्लजी ने समीक्षक के इस दायित्व को पूर्ण किया है। शुक्लजी की साहित्यक मान्यताओं का उनकी नैतिक मान्यताओं की तुलना में अपेक्षाकृत कम विरोध हुआ है। आज भी एक आदर्श समीक्षक के रूप में हमारी दृष्टि शुक्ल पर आकर स्थिर हो जाती है। हम उनसे मतभेद रख सकते हैं किन्तु उनकी साहित्यिक इमानदारी को अस्वीकार नहीं कर सकते।

४. सिद्धान्त और व्यवहार

४. सिद्धान्त और व्यवहार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'आचार्य' कहलाते हैं। उनका आचार्यत्व काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं के कारण ख्यात है। इस आचार्यत्व का विवेचन उनके द्वारा विवेचित सैद्धान्तिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है। इन मान्यताओं पर उनके मौलिक चिन्तन की छाप है। साथ ही अपने चिन्तन के अनुरूप शास्त्रीय विवेचन करने के उपरान्त उस चिन्तन के व्यावहारिक धरातल पर पहुँच शास्त्र की गहरी छान-बीन भी शुक्लजी करते चलते हैं। शुक्लजी का आचार्यत्व केवल शास्त्र निर्माण तक ही सीमित नहीं है। वह शास्त्र के व्यावहारिक पहलुओं को लेकर चलने वाला भी है। काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त और उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक पक्ष शुक्लजी की दृष्टि में जो रहा है, उसका विवेचन नीचे किया जा रहा है। यह विवेचन 'चिन्तामणि भाग १' के आधार पर ही किया जा

रहा है

२

चिन्तामणि भाग १, के निबन्धों के शीर्षकों को ध्यान से देखें तो कुछ निबन्ध काव्य शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले दिखलाई देंगे। इस प्रकार के निबन्धों में (१) कविता क्या है ?, (२) काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था (३) साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद और (४) रसात्मक बोध के विविध रूप। ये चारों ही निबन्ध इसी प्रकार के (काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले) प्रतीत होंगे। अन्य निबन्धों पर भी शास्त्रीय विवेचन की छाप है।

इन चारों निबन्धों मे 'कविता क्या है ?' का विवेचन पीछे हो चुका है। दूसरा निबन्ध 'काव्य में लोक-मगल की साधनावस्था' का सम्बन्ध काव्य के सैद्धान्तिक (शास्त्रीय) पक्ष से उतना नही है, जितना काव्य के नैतिक पक्ष से है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सब से अधिक प्रौढ निबन्ध 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' है। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' को इस निबन्ध के उपरान्त स्थान दिया जा सकता है।

३

काव्यशास्त्र सम्बन्धी इन निबन्धों को देखते समय एक बात जो स्पष्ट रूप से कही जा सकती है, वह यह है कि शुक्लजी का शास्त्रीय चिन्तन व्यवहार से सिद्धान्त की ओर बढनेवाला है, सिद्धान्त से व्यवहार की ओर नही। किसी स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए शुक्लजी ने दीर्घकाल तक चिन्तन किया है। व्यावहारिक रूप से जिस बात को उनका हृदय स्वीकार करता रहा है, उसके लिए बौद्धिक आधार खोजने में शुक्लजी ने लम्बे समय तक मनन और चिन्तन किया है। इसके प्रमाण में 'कविता क्या है ?' निबन्ध, सब से अच्छा उदाहरण है। १९०९ ई. में लिखे गए इस निबन्ध और १९३९ ई. में इसी निबन्ध के सशोधित रूप को देखने से यह बात तत्काल समझ में आ जाएगी।[1] १९०९ ई. वाले निबन्ध में व्यावहारिक पक्ष अधिक है जब कि १९३९ ई. वाले उसी निबन्ध में सैद्धान्तिक पक्ष को प्रथम स्थान मिला है और बाद में व्यावहारिक पक्ष आया है। इससे पता चलता है कि दीर्घ काल तक कविता पढ़ते-पढते (कविता का रसग्रहण करते-करते) शुक्लजी

1. 'कविता . प्रयोजन और आवश्यकता' – अध्याय में इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है।

कविता के सम्बन्ध में चिन्तन करते रहे हैं अपने चिन्तन के लिए उन्होंने शास्त्रीय ग्रंथों का आधार ग्रहण किया है । आश्चर्य इस बात का होता है कि शुक्लजी का आधार पारम्परिक रूढ़ रूप में नहीं है। रीतिकालीन शास्त्रीय परम्परा से हिन्दी को मुक्त कर हिन्दी को नया शास्त्रीय आधार शुक्लजी ने प्रदान किया है। शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि, संस्कृत काव्यों के आधार पर निर्मित हुई है; किन्तु हिन्दी काव्यों ने भी (विशेष रूप से तुलसी, सूर, जायसी आदि) उनकी अभिरुचि का संस्कार किया है। कहना यह है कि साहित्यिक अभिरुचि के संस्कार के बाद, शुक्लजी ने, साहित्य का शास्त्रीय चिन्तन किया है। इस चिन्तन में उन्होंने साहित्य (काव्य को) को प्राथमिकता दी है और शास्त्र को इसके अनन्तर स्थान दिया है । इस तरह से शास्त्र को स्थान देने में (अपने शास्त्रीय विवेचन में) उन्होंने अपने साहित्यिक अनुभव (रसग्रहण शक्ति) का बार-बार शास्त्र से सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास में शुक्लजी अन्य आचार्यों से मतभेद रखते हुए प्रतीत होते हैं। अन्य आचार्यों की मान्यताओं को अपने साहित्यिक अनुभव के आधार पर परखते जाते हैं (शास्त्र के व्यावहारिक पहलुओं पर विचार करते जाते हैं) और जब इस परख में कोई आचार्य उनके अनुभव से मतभेद रखता प्रतीत होता है तो शुक्लजी इस मतभेद को बेधड़क व्यक्त कर देते हैं । शास्त्रीय 'गड़बड़झाला' को शुक्लजी पसन्द नहीं करते । वैसे देखा जाय या सच कहा जाय तो शुक्लजी, काव्य-शास्त्र का योजनाबद्ध ग्रंथ नहीं लिखते। उनका उद्देश्य ऐसा प्रतीत नहीं होता। सच्चाई तो यह है कि अपने साहित्यिक अनुभव को शास्त्रीय मान्यताओं के अनुकूल परखने का शुक्लजी ने प्रयास किया है । इस प्रयास में अन्य आचार्यों से उनका मतभेद हो गया । इस मतभेद को व्यक्त करते समय अपने चिन्तन के अनुरूप शुक्लजी ने जगह जगह अपनी निजी सम्मतियाँ दी है । ये सम्मतियाँ काव्यशास्त्र की (संस्कृत काव्यशास्त्र की) शब्दावली को अपनाते हुए दी गई हैं । इस शब्दावली में शुक्लजी ने (अपने अनुभव–साहित्यिक–अनुभव–के अनुरूप) सम्बोधनात्मक प्रस्ताव रखे है । शब्द वे ही हैं, अर्थ उनका अपना दिया हुआ है । यों कहना चाहिए कि शास्त्रीय शब्दों-पारि-भाषिक शब्दों-को वैज्ञानिक आधार देते हुए शुक्लजी अपने चिन्तन के अनुरूप शास्त्र का संस्कार करते चलते हैं। इस शास्त्रीय संस्कार में उनके मौलिक विचार घुलमिल गए हैं। इनको अलग करना कठिन कार्य है । इनको अलग करने से ही हम शुक्लजी के आचार्यत्व की मीमांसा ठीक अर्थों में कर सकते हैं । यद्यपि यह कार्य बहुत कठिन है किन्तु एक दो उदाहरणों के आधार पर इस कथन को प्रमाणित करने का प्रयास नीचे किया जा रहा है।

शुक्लजी का शास्त्रीय चिंतन उनकी नैतिक मान्यताओं से प्रभावित है। समाज का शुभ और मंगल उनके शास्त्र में भी अप्रत्यक्ष रूप से है। अतः शुक्लजी के शास्त्रीय विवेचन मे शुक्लजी का नैतिक दृष्टिकोण अपने आप गया है। इस बात का ध्यान रखते हुए ही यह विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

४

जैसे कि पहले ही कह दिया गया है कि शास्त्रीय दृष्टि मे सब से प्रौढ निबन्ध '**साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद**' निबन्ध है। इस निबंध मे मनोविकारो से सबंधित निबन्धों, 'कविता क्या है?,' 'रसात्मक बोध के विविध रूप' और 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' निबंध का उपयोग है। दूसरे सब निबंधों का शास्त्रीय चिन्तन इस निबंध मे स्थान पा गया है। निबंध पूर्णतः मौलिक है और शुक्लजी के आचार्यत्व को समझने के लिए सब से उत्तम है। अपनी मौलिक स्थापनाओं में शुक्लजी संस्कृत काव्यशास्त्र का उपयोग करते हुए कुछ इस प्रकार से लिखते जाते है, जिससे पता चलता है कि शुक्लजी नई बात नहीं कह रहे हैं। जैसे शुक्लजी का यह वाक्य है–'**इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।**' (पृ २२७) इस वाक्य में 'हमारे यहाँ' शब्द यह कहता है कि यह कथन नया नही है, भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से (हमारे काव्यशास्त्र की दृष्टि से) यह बात कही जा रही है। इस तरह से कहने पर भी कथन में शुक्लजी की मौलिकता है। इस मौलिकता को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। साधारणीकरण की परिभाषा शुक्लजी ने इस प्रकार दी है :–

> 'किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयो को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य-गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से संबंध रखनेवाले नही होते; मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति

नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणी-
करण कहलाता है।' (पृ. २२७).

इस परिभाषा में सब से पहले यह बात कही गई है कि श्रोता और पाठकों के मन में भाव होते हैं। पहला वाक्य ही श्रोता या पाठक की भावात्मक सत्ता को व्यक्त करनेवाला है। यह भावात्मक सत्ता, मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाली होती है। प्रथम वाक्य में ही शुक्लजी ने बहुत सी बातें एक साथ समेट ली हैं। 'किसी काव्य का श्रोता या पाठक' कहकर ध्यान श्रोता और पाठक पर केन्द्रित किया गया है। अर्थात् शुक्लजी श्रोता और पाठकों के सम्बंध में बल देकर कह रहे हैं। साधारणीकरण श्रोताओं और पाठकों में होता है। अतः श्रोताओं और पाठकों के संबंध में बल देकर कहा गया है। पाठक और श्रोता किसके? उत्तर होगा 'काव्य के'। (यहाँ काव्य को समझने के लिए 'कविता क्या है' निबन्ध में शुक्लजी ने जो लिखा है, उसी धारणा के अनुसार काव्य का अर्थ किया जाय) 'काव्य' के श्रोता और पाठक' के बाद 'जिन विषयों को मन में लाकर' कहा गया है। कौनसे विषय? और कौन मन में लाते हैं? उत्तर होगा, काव्य के विषय और मन में लानेवाला पाठक और श्रोता होगा। काव्य के विषय ('कविता क्या है?' निबन्ध में इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है। इन विषयों का शुक्लजी ने वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है।) को श्रोता या पाठक मन में लाता है। 'साधारणीकरण' काव्य के विषय का होता है। इसे आलम्बन कहा गया है। यहाँ काव्य के विषय का अर्थ आलम्बन के रूप में लिया जा सकता है। संक्षेप में काव्य के विषय हुए आलम्बन तथा श्रोता और पाठक हुए आश्रय। आगे कहा गया है-'रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों का अनुभव करता है,' (भावों और मनोविकारों वाले निबन्धों में शुक्लजी ने इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है।) यहाँ सरल अर्थ यह है कि काव्य के विषय, काव्य के श्रोता और पाठक के मन में भाव जगाते हैं। शुक्लजी ने श्रोता और पाठक पर वाक्य में बल दिया है इसलिए वाक्य श्रोता और पाठक के दृष्टिकोण को अधिक व्यक्त करता है। इस अर्थ में यह कहा भी गया है। श्रोता और पाठक काव्य के विषयों को मन में लाकर रति आदि भावों का अनुभव करता है। एक प्रकार से साधा-रणीकरण की भूमिका शुक्लजी ने इस वाक्य-खण्ड में प्रस्तुत कर दी है। आगे शुक्लजी लिखते हैं-'वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते। मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं।'

यहाँ 'वे' सर्वनाम महत्त्वपूर्ण है। वे क्या ? उत्तर होगा, वे भाव। कौनसे भाव ? उत्तर होगा, जिन्हे श्रोता या पाठक काव्य के विषयो के कारण मन मे लाकर अनुभव करते है, वे भाव। आगे कहा गया है–'अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते, मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं।' इस कथन से साधारणीकरण सिद्धान्त का एक पहलू स्पष्ट हो जाता है। वे भाव, पाठक और श्रोता, काव्य के विषयो को मन मे लाकर अनुभव करते हैं, उनका यह अनुभव उनका अकेले का अनुभव नही होता, यह अनुभव मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाला होता है। एक प्रकार से यह सारा कथन साधारणीकरण की स्थिति को सैद्धान्तिक रूप से स्पष्ट करनेवाला है।

आगे का वाक्य है–'इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुनने वाले सहस्त्रों मनुष्य उन्ही भावनाओ का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते है : यहाँ, 'इसी से' की व्याख्या फिर करनेकी आवश्यकता नही। 'इसी से' के भीतर पहला वाक्य–बोध समेट लिया गया है। अब यह कहा गया है कि 'उक्त काव्य को' (यहाँ उक्त काव्य का अर्थ, वह काव्य है, जिसे श्रोता या पाठक मन मे लाकर अनुभव करते हैं।) एक साथ पढ़ने या सुननेवाले (पढ़नेवाले पाठक होंगे और सुननेवाले श्रोता होंगे) सहस्रों मनुष्य (मनुष्य मात्र कह सकते हैं) उन्हीं भावों या भावनाओ को (वे भाव जिनकी व्याख्या पहले वाक्य की व्याख्या करते हुए दी गई है) थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। इस थोड़ा या बहुत की व्याख्या विस्तार से अपेक्षित है और इसी पर मतभेद की सभावना है। इस मतभेद की सभावना से शुक्लजी सजग हैं इसलिए उन्होने 'थोड़ा या बहुत' शब्द सोच समझकर ही रखा है। सब लोग (मनुष्य मात्र) एक ही प्रकार का अनुभव करे, यह तो आदर्श स्थिति है। इस स्थिति तक पहुँचना लक्ष्य है और सैद्धान्तिक स्थापना का आदर्श है। शुक्लजी इस दृष्टि से अपनी बात कहते हैं कि काव्य का एक (कोई) पाठक या श्रोता काव्य के विषय को मन में लाकर विषयानुसार भावों को (रति आदि) मन में अनुभव करता रहता है, उसको यदि दूसरा भी मन मे (दूसरा पाठक या श्रोता, उसी काव्य के भाव को) लाकर अनुभव करता है तो दोनों का अनुभव कहाँ तक मेल खाएगा ? दो ही क्यों ? सख्या बढ़ सकती है और मनुष्य मात्र को यह अनुभव किस रूप मे हो सकता है ? , यह प्रश्न है। शुक्लजी कहते है कि सभी श्रोताओ और पाठकों का यह अनुभव 'थोड़ा–बहुत' अनुभव, समान रूप से संभव है। अब यह अनुभव "जिस हद तक या जिस सीमा तक सब लोगो को समान रूप से होगा, उस हद

तक या उस सीमा तक की स्थिति को साधारणीकरण की स्थिति कहा जा सकता है।

भूमिका स्पष्ट करने के बाद शुक्लजी साधारणीकरण की परिभाषा देते हुए कहते हैं 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की शक्ति नहीं आती।' इस वाक्य का विश्लेषण विस्तार की अपेक्षा रखता है। इसके आधार पर ये उपपत्तियाँ कही जा सकती हैं :—

(१) साधारणीकरण भाव का होता है।

(२) साधारणीकरण का अनुभव पाठक या श्रोता करते है।

(३) यह अनुभव (भाव का अनुभव) काव्य के विषय के आधार पर होता है।

(४) काव्य का विषय आलम्बन होता है।

(५) वह आलम्बन इस रूप में लाया जाय (काव्य का विषय इस रूप में लाया जा) कि सामान्यतः, वह सब के उसी भाव का आलम्बन हो।

(६) काव्य का विषय (आलम्बन) सामान्यतः सब के भाव का आलम्बन होगा, तो उसमें रसोद्बोधन की शक्ति होगी।

अब इस विषय में इस तरह से कहा जा सकता है :—

"इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" (यह शुक्लजी का वाक्य उसी तरह ही लिख दिया गया है, इस की व्याख्या की आवश्यकता नहीं।)

५

साधारणीकरण के सम्बन्ध में जो स्थापना शुक्लजी ने आरम्भ में प्रस्तुत की है; वह स्थापना सैद्धान्तिक है। सिद्धान्त रूप में यह कथन उचित प्रतीत होता है। इस स्थापना के बाद आगे का सारा निबन्ध हम पढ़ जाएँ तो कोई नई स्थापना नहीं मिलेगी। इस स्थापना के बाद शुक्लजी 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की विशेषताएँ बतलाते है और पश्चात् इस सिद्धान्त के व्यावहारिक पहलुओं पर विचार करते हैं। उनकी यह मीमांसा सिद्धान्त की स्थापना से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। इस मीमांसा के बाद उन्होंने

इस सिद्धान्त के विपरीत **व्यक्तिवैचित्र्यवाद** का विवेचन किया है। वास्तव में '**व्यक्तिवैचित्र्यवाद**' का विवेचन अपने आप में स्वतंत्र प्रतीत होने पर भी, वह साधारणीकरण की अनुपस्थित स्थितियों पर विचार करनेवाला है। इस तरह से काव्य के विषय (आलम्बन) का जो अनुभव पाठक-वृंद या श्रोता-वृंद करते रहते हैं, उसकी सभी वैकल्पिक स्थितियों (थोड़ा-बहुत अनुभव) पर शुक्लजी ने विचार किया है। इन वैकल्पिक स्थितियों-व्यक्तिवैचित्र्यवाद वाली स्थितियो-का वर्गीकरण भी शुक्लजी ने प्रस्तुत किया है। इन सब वैकल्पिक स्थितियों पर विचार करते समय शुक्लजी ने आचार्यों से-भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों से-अपना मतभेद भी व्यक्त किया है। मतभेद का एकमात्र कारण सिद्धान्तो के व्यावहारिक पहलुओं से है। पहले साधारणीकरण की स्थितियों पर और अनन्तर व्यक्तिवैचित्र्यवाद की स्थितियों पर शुक्लजी के अनुसार ही यह विवेचन नीचे किया जा रहा है।

६

साधारणीकरण और नैतिकता : शुक्लजी ने इस सिद्धान्त के साथ नैतिकता को कुछ इस रूप में जोड़ दिया है कि उसे अलग नहीं किया सकता। इस सम्बन्ध मे उनकी पंक्तियां इस प्रकार है :—

> **"यह सिद्धान्त** (साधारणीकरण वाला सिद्धान्त) **यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"** (पृ. २२७)

यह आदर्श स्थिति है। '**लोक-हृदय**' शुक्लजी का अपना शब्द है। साधारणीकरण के सिद्धान्त के अनुरूप (मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता को प्रभावित करनेवाला, काव्य-काव्य का विषय सामान्यतः सभी के भावों का आलम्बन।) जो काव्य लिखा जायगा, उस काव्य में मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को पहचानने की शक्ति होगी। इस आधार पर शुक्लजी ने सच्चे कवि का लक्षण भी बतलाया है। सच्चा कवि वही है, जिसे '**लोक-हृदय**' की पहचान होगी। और आगे शुक्लजी ने '**रस-दशा**' को भी स्पष्ट किया है। '**लोक-हृदय**' मे लीन होने की दशा का नाम '**रस दशा**' है। एक साथ इस सिद्धान्त (साधारणीकरण) के आधार पर शुक्लजी ने इतने निष्कर्ष निकाले है। एक प्रकार से इन निष्कर्षो में सिद्धान्त के साथ नैतिक पक्ष जुड़ गया है। '**लोक-हृदय**' की मीमांसा नैतिक-पक्ष के विवेचन के अभाव में नहीं की जा

सकती। आचार्य शुक्ल स्वयं इस सिद्धान्त के व्यावहारिक पहलुओं पर विचार करते समय 'लोक-हृदय' की मीमांसा करते चलते हैं।

७

प्रथम अनुच्छेद में सिद्धान्त की स्थापना और अनन्तर उसके साथ नैतिक पक्ष जोड़ने के बाद शुक्लजी सिद्धान्त के व्यवहार पर विचार करने लगते हैं। उदाहरण दिया गया है। कुरूप और दुःशील स्त्री पर किसी पात्र का (किसी काव्य में वर्णित) प्रेम हो सकता है, किन्तु ऐसी स्त्री का वर्णन करने से शृंगार रस का आलम्बन खड़ा नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति को शुक्लजी ने एक अलग नाम दिया है। इस वर्णन को शुक्लजी 'भाव-प्रदर्शक' कहते हैं। कारण यह है कि इस प्रकार का वर्णन (काव्य का विषय, आलम्बन) मनुष्य-मात्र के भाव का आलम्बन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में विभाव-पक्ष कमजोर रहेगा। एक प्रकार से 'भाव-प्रदर्शक' साधारणीकरण की एक अपवाद स्थिति है। यह स्थिति सिद्धान्त का व्यवहार से मेल न खानेवाली स्थिति है।

इसके बाद सामान्य और विशेष (काव्य के विषय का) का अन्तर स्पष्ट किया गया है। शुक्लजी के अनुसार काव्य का विषय सदा 'विशेष' होगा, वह सामान्य नहीं हो सकता। किन्तु उस 'विशेष' विषय में जिस धर्म की प्रतिष्ठा होगी, वह सामान्य की होगी। इस विशेष और सामान्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए शुक्लजी अर्थग्रहण और बिम्बग्रहण का अन्तर स्पष्ट करने लगते हैं (यह सब 'कविता क्या है?' निबन्ध में कह दिया गया है।) यहाँ उनका विशेष बल इस बात पर है कि बिम्बग्रहण (जो कि काव्य का एक लक्षण है।) जब भी होगा 'विशेष' का ही होगा। इस प्रसंग को विस्तार से लिखते हुए अन्त में शुक्लजी ने अपना निर्णय इस प्रकार दिया है :—

> "कल्पना में (पाठक या श्रोता के) मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।" (पृ. २३०)

प्रथम अनुच्छेद में साधारणीकरण सिद्धान्त की जो परिभाषा दी गई है उसमे शुक्लजी ने 'हमारे यहाँ' शब्द कहा था। किन्तु यहाँ ऊपर साधारणीकरण के व्यावहारिक पहलू पर विचार करते हुए उन्होंने ऐसा नही कहा। विशेष और सामान्य का अन्तर और इस अन्तर के अनुसार पाठक या श्रोता के मन में व्यक्ति-विशेष की मूर्ति कल्पना में रहने पर भी सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा होना और यह सामान्य धर्म जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है और जिसके साक्षात्कार से श्रोताओं और पाठकों के मन में एक ही भाव का थोड़ा-बहुत उदय होता रहता है। यह सारा कथन शुक्लजी का अपना कथन है। शुक्लजी ने जिस बात पर विशेष बल दिया है, वह है– '**इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।**' (पृ. २३०) इस कथन की व्याख्या यों भी की जा सकती है कि आलम्बन तो विशेष रहता है और इस आलम्बनत्व धर्म (आलम्बन विशेष के सामान्य धर्म) को सामान्य कहा जा सकता है। साधारणीकरण सामान्य धर्म का होता है। यह सामान्य धर्म आलम्बन में प्रतिष्ठित रहता है।

८

शुक्लजी इस सिद्धान्त में एक और संशोधन अपनी ओर से प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत करने से पूर्व पुराने आचार्यों का उल्लेख करते हैं। इस सम्बन्ध में पुराने आचार्योंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जिस रूप में किया उस सम्बन्ध में शुक्लजी का मत है कि रस की अवस्थाओं पर आचार्यों ने पूर्णतः (व्यावहारिक दृष्टि से) विचार नहीं किया है। शुक्लजी लिखते हैं–'

> "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्योंने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करनेवाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलंबन-रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है।' (पृ. २३०-२३१

यहाँ पुरानें आचार्यों का तात्पर्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त से लिया जा सकता है। इन आचार्यों ने श्रोता और आश्रय के तादात्म्य का ही विचार किया है। शुक्लजी ने इन आचार्यों की तादात्म्यवाली स्थिति को स्वीकार किया है; किन्तु इसे स्वीकार करते हुए किस किस मे तादात्म्य और किस बात का तादात्म्य, इसे, इन आचार्यों की तुलना में अधिक स्पष्ट किया है।

पहले ही अनुच्छेद में उन्होंने इस सिद्धान्त (साधारणीकरण) को स्पष्ट करते समय 'हमारे यहाँ' शब्द कहा है। इससे तात्पर्य पुराने आचार्यों से ही है। इस स्थापना के समय में 'थोड़ा बहुत' शब्द शुक्लजी ने रखा है। यह उनका अपना संशोधन है। शुक्लजी की मौलिकता इस बात में है कि आचार्यों की तरह वे आश्रय (काव्य के आश्रय) और श्रोता के (या पाठक के) तादात्म्य को इस ढग से आरंभ में स्पष्ट करते हैं जिससे आचार्यों की बात रख ली गई है और अर्थ शुक्लजी का अपना हो गया है। शुक्लजी के संशोधनों को क्रमशः नीचे स्पष्ट किया जा रहा है।

शुक्लजी ने आरंभ में '**काव्य के विषय**' शब्द का प्रयोग किया है। (जिन विषयों को मन में लाकर)। इस प्रयोग से वे आश्रय और आलम्बन दोनो का (काव्य के आश्रय और काव्य का आलंबन) एक साथ अर्थ लेते है। शुक्लजी के '**आलंबन**' का अर्थ अधिक व्यापक है। वह '**काव्य के विषय**' के अर्थ का द्योतक है। काव्य के भीतर पाए जानेवाले पात्रों में आश्रय और आलम्बन को अलग करना और फिर आश्रय के साथ श्रोता या पाठक का तादात्म्य दिखलाना, इस प्रकार का विश्लेषण पुराने आचार्यों का (भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त) है। शुक्लजी ने '**काव्य का विषय**' के अन्तर्गत काव्य के आश्रय एवं आलबन का समाहार कर दिया है। शुक्लजी '**काव्य के विषय**' को श्रोता या पाठक का आलम्बन कहते है। साधारणीकरण सिद्धात में यह संशोधन शुक्लजी का अपना है।

शुक्लजी का दूसरा संशोधन (पुराने आचार्यों से मेल खाता हुआ होने पर भी) '**थोड़ा बहुत**' अनुभव है। शुक्लजी 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग पुराने आचार्यों के संदर्भ में करते है। अपनी ओर से सतर्क रहते हुए वे विश्वास के साथ 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग नही करते। क्यों कि शुक्लजी जानते हैं कि 'तादात्म्य' को व्यावहारिक रूप में समझाना कठिन है। शुक्लजी ने आचार्यों की भावना (तादात्म्य की भावना को) को स्वीकार किया है। इस को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि '**काव्य को एक साथ पढ़नेवाले** (पाठक) **या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य** (श्रोता) **उन्हीं भावों** (काव्य के विषय से सम्बन्धित) **या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते** है।' (पृ. २२७) इस '**थोड़ा बहुत**' की संभावना के बाद शुक्लजी 'सामान्यत. **सब के उसी भाव का आलम्बन**' कहते है। 'थोड़ा बहुत' के बाद की यह दूसरी स्थिति है और इस स्थिति में भी 'सामान्यतः' शब्द का प्रयोग है। शुक्लजी के कथन में संभावना व्यक्त हुई है। जैसे 'अनुभव कर सकते है' एव '**उसी भाव का आलम्बन हो सके**' ये दोनों ही कथन सभावना के है। सभव

स्थितियाँ होंगी तो रसोद्बोधन होगा और रसोद्बोधन होगा तो साधारणीकरण होगा। शुक्लजी के इस सभावंना से युक्त कथन के कारण सिद्धान्त में व्यवहार का मार्ग खुला हुआ हैं। एक प्रकार मे शुक्लजी का कथन लचीला हैं। भरत मुनि का यह कथन "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति" जैसे लचीला है, उसी तरह शुक्लजी के कथन में भी लचीलापन हैं।

शुक्लजी के 'सामान्यतः' शब्द का विश्लेषण किया जा सकता हैं। यहाँ 'सामान्यतः सब का' अर्थ मनुष्य मात्र का है। मनुष्य मात्र भावनाओ के आधार पर एक दूसरे से जुडे हुए हैं। इसे शुक्लजी ने 'भावात्मक सत्ता' कहा हैं। यह भावात्मक सत्ता 'सामान्य' है। काव्य का विषय (आलम्बन) विशेष होगा किन्तु उसमे प्रतिष्ठित भावना 'सामान्य' होगी। इस तरह शुक्लजी ने सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप दिया हैं।

और सब से महत्त्वपूर्ण मौलिक स्थापना 'आलम्बनत्व धर्म' की है, क्योंकि साधारणीकरण सिद्धान्त का यह निष्कर्ष हैं। आलम्बन विशेष होने पर भी उस आलम्बन का धर्म सामान्य होगा और यह सामान्य धर्म मनुष्य मात्र को प्रभावित करनेवाला होगा।

इस तरह हम देखते है कि आचार्यों की मान्यताओ को स्वीकार करते हुए भी शुक्लजी ने अपनी ओर से संशोधन किया हैं और यह सशोधन शुक्लजी की मौलिक स्थापनाओ को व्यक्त करनेवाला हैं।

यही नही, इस सिद्धान्त को शुक्लजी ने काव्य की कसौटी (परखने का मापदण्ड) के रूप में स्वीकार किया है। जहाँ-जहाँ, यह मान्य स्थितियाँ होंगी, वहाँ-वहाँ साधारणीकरण होगा। और जहाँ, साधारणीकरण सिद्धान्त से मेल खानेवाला काव्य होगा, वहाँ वह काव्य, उत्तम होगा और उसका रचयिता सच्चा कवि होगा।

पुराने आचार्यों के सिद्धान्त मे संशोधित प्रस्ताव के बाद अपने कथन के अनुरूप व्यावहारिक स्थितियों पर शुक्लजी विचार करते हैं। पुराने आचार्यों ने रस की एक नीची अवस्था का वर्णन नही किया है, ऐसा शुक्लजी का कहना हैं। काव्य का विषय (आलम्बन) श्रोता या पाठक में ऐसे भाव भी जगा सकता है, जिसमें श्रोता या पाठक तादात्म्य की स्थिति (सामान्यतः उसी भाव को जगाए जो औरो में जाग सकें) से हटकर स्वतंत्र रूप से शील-दृष्टा या प्रकृति-दृष्टा होने के [illegible] अन्य प्रभाव ग्रहण करेगा।



शुक्लजी इसे भी रसात्मक मानते हैं किन्तु इस स्थिति को उन्होंने मध्यम कोटि की रसात्मक स्थिति माना है।

९

शुक्लजी ने साधारणीकरण सिद्धान्त के साथ नैतिक पक्ष जोड़ दिया है। इस सम्बन्ध में 'शील' पर विशेष रूप से विचार किया गया है। साधारणीकरण की स्थिति में तादात्म्य जिस आधार पर होता है, वह शील के आधार पर होता है। पाठक या श्रोता यदि तादात्म्य का (आलम्बनत्व धर्म के तादात्म्य का) अनुभव न करे और शील-द्रष्टा मात्र रहे, इस स्थिति में भी तादात्म्य और तदनुसार साधारणीकरण होता है। यह तादात्म्य कवि के अव्यक्त भाव के साथ होगा, ऐसा शुक्लजी का कहना है। यदि श्रोता या पाठक काव्य में वर्णित पात्रों के शील से तादात्म्य स्थापित नहीं करता, तो निश्चित ही वह शील-वैचित्र्य का अनुभव करेगा। इस अनुभव की स्थिति में भाव अपरितुष्ट रह जायगा। इस प्रकार शुक्लजी साधारणीकरण की स्थितियों पर विचार करते समय साधारणीकरण का मापदण्ड, शील को मानते हैं। शील का तादात्म्य होता है तो साधारणीकरण होता है और तादात्म्य नहीं होता तो साधारणीकरण नहीं होता। यहीं पर आचार्यों से (पुराने आचार्यों से) सहमत होते हुए कहा गया है कि आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति रस की अनुभूति है। इस रस की अनुभूति को शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति से अलग माना गया है। रस वाली स्थिति में श्रोता या पाठक अपनी सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन करता है, जब कि शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति के समय पाठक या श्रोता अपनी सत्ता अलग से संभाले रखेगा। शुक्लजी यह भी मानते हैं कि रसमग्न स्थिति के आगे-पीछे (उदास- वृत्तिवाले आश्रय की स्थिति में) पाठक या श्रोता आश्रय की भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर आश्रय के शील-सौन्दर्य की भावना कर सकेगा। ऐसी स्थिति में आश्रय के शील-सौन्दर्य की भावना पाठक या श्रोता के लिए आलम्बनवत् होगी। इस स्थिति में आश्रय के प्रति (जो अब आलम्बनवत् है) पाठक या श्रोता के मन में श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

संक्षेप में यों कह सकते हैं कि शुक्लजी आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, इस मान्यता पर दृढ़ है। इस मान्यता के व्यावहारिक पहलुओं पर विचार करते समय आश्रय के साथ तादात्म्य (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) की स्थिति को भी साधारणीकरण मानते हैं और यदि आश्रय स्वयं पाठक

या श्रोता का आलम्बन हो, तो इसे भी साधारणीकरण की स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं। इन दोनों स्थितियों को उन्होंने दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ मानी है। पुराने आचार्यों ने इन दोनों कोटियों का इतना स्पष्ट अन्तर नहीं बतलाया। उनके अनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य वाली स्थिति (रस की स्थिति) ही साधारणीकरण की स्थिति (जिसमें पाठक अपनी सत्ता कुछ क्षणों के लिए विसर्जित कर दे) हो सकती है। जब कि शुक्लजी पाठक की स्वतंत्र सत्ता को आश्रय से अलग रखनेवाली स्थिति को, जिसमें आश्रय स्वयं पाठक या श्रोता का आलम्बन हो जाता है, भी स्वीकार करते हैं। यहाँ साधारणीकरण कवि के अव्यक्त भाव का होता है। इससे स्पष्ट हुआ कि शुक्लजी के आलम्बन (काव्य के विषय) के अन्तर्गत आश्रय एवं आलम्बन दोनों का समाहार हो गया है।

१०

निबन्ध के उत्तर पक्ष में 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद' का विवेचन किया गया है। निबन्ध का यह भाग साधारणीकरण की वैकल्पिक स्थितियों को बतलानेवाला है। इस नामकरण का आधार 'शील वैचित्र्य' है। जहाँ तादात्म्य और साधारणीकरण नहीं होता, वहाँ वैचित्र्य की स्थितियाँ होंगी। शुक्लजी ने इस प्रवृत्ति को योरप की प्रवृत्ति माना है। साधारणीकरण की प्रवृत्ति को वे हमारे यहाँ की प्रवृत्ति मानते हैं। वैचित्र्यवाद की तीन वैकल्पिक स्थितियाँ बतलाई गई हैं। वे हैं — (१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन (२) आश्चर्यपूर्ण अवसादन और (३) कुतूहल मात्र। इन तीनों ही स्थितियों में पाठक या श्रोता शील-वैचित्र्य (इसे अन्तःप्रकृति वैचित्र्य भी कहा गया है।) का अनुभव करेंगे। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति से शुक्लजी सहमत नहीं हैं।

शील, किसी भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने की दशा का नाम है। काव्य के विषय में जिस भाव की प्रतिष्ठा होगी (काव्य में वर्णित पात्रों का जो शील होगा) यदि वह भाव सामान्यतः सब के भावों का आलम्बन होता है तो साधारणीकरण होगा। शील-वैचित्र्य में सामान्यतः काव्य में वर्णित पात्रों में प्रतिष्ठित भाव (शील) सब के भावों का आलम्बन नहीं होगा। यह स्थिति, वैचित्र्य की स्थिति है। सात्त्विकी चरम सीमा की स्थितियों का चित्रण आश्चर्यपूर्ण प्रसादन होगा और तामसिकी चरम सीमा का चित्रण आश्चर्यपूर्ण अवसादन होगा। भरत, पहली स्थिति का उदाहरण है और मिहिरगुल दूसरी स्थिति का उदाहरण हैं। ऐसी अद्वितीय प्रकृति जो किसी वर्ग-

विषय में न आए, जिसे 'नूतन सृष्टि' ही कहा जा सकता है, इसके साक्षात्कार से कुतूहल मात्र होगा। इस सम्बन्ध में डटन महोदय का शुक्लजी खण्डन करते हैं। डटन के मत से शुक्लजी सहमत नहीं हैं। डटन ने निरपेक्ष दृष्टि को काव्य की उच्चतम दृष्टि ठहराया है। इसके लिए शेक्सपिअर के हैमलेट का उदाहरण दिया है। शुक्लजी इस उदाहरण की स्थितियों पर विचार करते हैं और कहते हैं कि यह उदाहरण वर्ग-विशेष के भीतर आ जाता है। जैसे शुक्लजी यह मानते हैं कि काव्य का विषय सदा 'विशेष' होगा उसी तरह यह भी मानते हैं कि पात्रों का चरित्र-चित्रण सापेक्ष होगा, नर-प्रकृति के अनुकूल होगा। 'नूतन सृष्टि निर्माणवाली कल्पना' का शुक्लजी विरोध करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति को वे योरप की प्रवृत्ति मानते हैं और कहते हैं कि यह प्रवृत्ति अब भारत में भी चल रही है। अन्तर है तो इस बात में कि भारत में इस प्रवृत्ति को शास्त्रीय आधार नहीं मिला है। भारत में इसका प्रचलन अर्थवाद के रूप में ही है। इसी संदर्भ में शुक्लजी 'व्यक्तिवाद' का उल्लेख करते हैं। यह 'व्यक्तिवाद' पुनरुत्थान काल (योरप में) का मथकर निकाला हुआ रत्न है। निश्चित ही शुक्लजी इससे सहमत नहीं हैं। व्यक्तिवाद के बाद 'वाद' का (किसी भी वाद का) खण्डन करते हुए शुक्लजी लिखते हैं कि 'किसी भी वाद का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को ही चर जाता है।' (पृ. २२३). इस तरह से शुक्लजी शील-वैचित्र्य की स्थितियों से उत्पन्न परिणामों को साहित्य के लिए उपादेय नहीं मानते।

११

साधारणीकरण और उसके बाद व्यक्तिवैचित्र्यवाद की स्थितियों पर विचार करने के बाद 'भिन्नता' और 'अभिन्नता' की चर्चा करते हैं। शुक्लजी मानते हैं कि लोक के बीच जहाँ बहुत-सी भिन्नताएँ हैं, वहाँ अभिन्नताएँ भी पाई जाती हैं। इस अभिन्नता का सम्बध मनुष्य की अन्तर्भूमियों से है। इन के आधार पर नर-समष्टि रागात्मक रूप में आबद्ध होती है। इसको शुक्लजी 'लोक-हृदय' के नाम से अभिहित करते हैं। शुक्लजी का 'लोक-हृदय' शब्द साधारणीकरण सिद्धान्त का आधार है। शुक्लजी लिखते हैं— 'लोक-हृदय की यह सामान्य अन्तर्भूमि (भिन्नता में अभिन्नता) परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है।' (पृ. २३७) शील-वैचित्र्य की स्थितियों में भिन्नता में अभिन्नता का दर्शन नहीं होगा। ऐसी स्थिति में काल्पनिक हृदय (लोक-हृदय से मेल न खानेवाला हृदय) निर्मित किए जाएँगे। शुक्लजी इसे 'नकली-हृदय' कहते हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा

जा सकता है कि जहाँ 'लोक-हृदय' की पहचान होगी, वहाँ साधारणीकरण होगा और जहाँ 'नकली-हृदय' दिखलाए जाएँगे वहाँ व्यक्तिवैचित्र्यवाद होगा। सारांश रूप मे कहा गया है – 'सारांश यह कि हमारी वाणी भाव-क्षेत्र के बीच 'भेदों में अभेद' को ऊपर करती रही है और उनकी (योरपीय) वाणी झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।' (पृ. २३८-२३९).

और अन्त में योरपीय वादों को साहित्यिक फैशन के रूप में बतलाते हुए, इस प्रकार की प्रवृत्तियों को अच्छा नहीं बतलाया गया है। शुक्लजी 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की प्रवृत्तियो (साधारणीकरण से मेल न खाने के कारण) अच्छा नहीं मानते। इस सम्बन्ध मे क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' का खण्डन शुक्लजी ने किया है। निरपेक्षता को दूर तक घसीटने पर भी भावों की सत्ता अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप मे क्रोचे को स्वीकार करनी पड़ी है। इस सारे विवेचन के बाद हिन्दी समालोचना की वर्तमान प्रवृत्तियों (शुक्लजी के समय की) को पाश्चात्य प्रभाव से युक्त दिखलाया गया। शुक्लजी चाहते है कि हिन्दी समालोचना इन प्रवृत्तियों से बचे। कोरी नवीनता केवल मरे हुए आन्दोलनों का इतिहास छोड़ जाय, जो छोड़ जाय, इससे कविता का स्वरूप नही खड़ा हो सकता। अन्त मे योरप मे वादों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वहाँ अब (शुक्लजी के समय मे) वादो से मुक्त होकर लोग साफ हवा मे आना चाह रहे है। वादी समझना (किसी वाद से युक्त माना जाना) अच्छा नही समझा जाता। इस तरह यह निबन्ध समाप्त हो जाता है।

१२

ऊपर 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' निबन्ध का सार प्रस्तुत करते हुए शुक्लजी के अपने संशोधनों और मौलिक स्थापनाओं को स्पष्ट करने का (जैसे शुक्लजी ने समझा है) प्रयास किया है। यह बात स्पष्ट होती है कि सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पर शुक्लजी का ध्यान रहा है। इसमें भी व्यवहार पर शुक्लजी का ध्यान अधिक रहा है। इसी आधार पर शुक्लजी सिद्धान्त की वैकल्पिक स्थितियों पर विचार करते हैं। व्यावहारिकता की कसौटी, 'लोक-हृदय' की पहचान है। इस पहचान के आधार पर ही 'साधारणीकरण' और 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद' का भेद दिखलाया गया है। शुक्लजी के सिद्धान्तों मे 'लोक-हृदय' की पैठ है। यह पैठ शुक्लजी को प्राचीन आचार्यों से अलग कर देती है। अतः 'लोक-हृदय' शब्द को शुक्लजी

का शास्त्रीय शब्द कहा जा सकता है। 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' शुक्लजी ने एक स्वतंत्र निबन्ध लिखा है, यह निबन्ध विशेष रूप से 'लोक-हृदय' के सम्बन्ध में शुक्लजी की मान्यता को स्पष्ट करनेवाला है। इस आधार पर शुक्लजी ने काव्य को दो विभागों में बाँटा भी है। (१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्य और (२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्य। इस आधार पर 'लोक-मंगल' और 'लोक-रंजक' स्थितियाँ स्पष्ट की गई हैं। 'आनन्द की साधनावस्था' का काव्य 'लोक-मंगल' से सम्बन्ध रखनेवाला होगा और 'आनन्द की सिद्धावस्था' का काव्य 'लोक-रंजक' से सम्बन्ध रखनेवाला होगा। यह सारा विवेचन शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं को व्यक्त करनेवाला है। शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं पर अलग निबंध लिखा जा रहा है अतः यहाँ इतना ही समझ लिया जाय कि शुक्लजी का शास्त्रीय चिन्तन, शुक्लजी की मान्यताओं से प्रभावित है। अपनी नैतिक मान्यताओं के आधार पर शुक्लजी व्यावहारिक दृष्टि से सिद्धान्तों को परखते हैं और इस परखने में सिद्धान्तों में संशोधन भी करते चलते हैं। शुक्लजी के सिद्धान्तों का खण्डन उनकी नैतिक मान्यताओं के खण्डन के आधार पर ही किया जा सकता है। यदि हम उनकी नैतिक मान्यताओं को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उनका विवेचन, चिन्तन, सैद्धान्तिक मण्डन आदि सब वैज्ञानिक प्रतीत होगा। अपने विवेचन को शुक्लजी ने बौद्धिक एवं वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है।

१३

इसी प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी का आचार्यत्व उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण का परिणाम है। लक्ष्य आचार्य होने का नहीं है। साहित्यिक समस्याओं का निदान खोजते-खोजते, उन्होंने काव्यशास्त्र में अपनी ओर से (प्राचीन मतों का समर्थन करते हुए ही) कुछ संशोधन किया है। यह संशोधन भी व्यावहारिकता के आधार पर (सिद्धान्तों को परखते समय) किया गया है। उनके इस कार्य ने ही उन्हें आचार्यत्व का पद प्रदान करने योग्य बना दिया है।

१४

किसी भाषा का व्याकरण, उस भाषा का शास्त्रीय रूप है। व्याकरण में भाषा की आन्तरिक व्यवस्था के सिद्धान्त होंगे। इन सिद्धान्तों का निर्माण भाषा-विषयक बोध के आधार पर ही (तत् तत् भाषा-विषयक बोध) संभव है। अंगरेजी भाषा का व्याकरण जर्मन भाषा-भाषी उस समय तक नहीं लिख

सकता जब तक कि वह (जर्मन भाषी व्यक्ति) अंगरेजी पर अच्छा अधिकार नहीं कर लेता । 'भाषा बहता नीर' (विकसनशील) होने पर भी व्याकरण के कारण भाषा को स्थिर रूप प्राप्त होता है और वह समुन्नत स्तर तक पहुँच सकती है । यही स्थिति 'काव्यशास्त्र' की भी है । संस्कृत का 'काव्यशास्त्र' हो या अंगरेजी का 'काव्यशास्त्र' हो, काव्यशास्त्र सामान्य होने पर भी दोनों 'काव्यशास्त्रों' का अन्तर दोनों ही भाषाओं के साहित्य में किए गए चिन्तन का परिणाम है । चिन्तन में नवीनता उसी समय आ सकती है जब काव्यशास्त्र पर लिखनेवाला व्यक्ति 'काव्य' का रसास्वादन करनेवाला हो । रसानुभूति की पैठ (किसी भी भाषा के साहित्य में) के आधार पर ही साहित्यिक-चिन्तन में व्यावहारिकता के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है और इसी प्रकार का चिन्तन सिद्धान्तों में परिष्कार भी ला सकता है । संस्कृत का काव्यशास्त्र, संस्कृत-साहित्य के चिन्तन का परिणाम है । उस चिन्तन के साथ, उस साहित्य की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी सम्बद्ध हैं । इसी तरह अंगरेजी (पाश्चात्य) का काव्यशास्त्र अंगरेजी साहित्य के चिन्तन का परिणाम है । यहाँ कहना यह है कि हिन्दी 'काव्यशास्त्र' का स्वतंत्र निर्माण उसी समय संभव है जब हिन्दी साहित्य को चिन्तन का आधार बनाया जायगा । संस्कृत के सिद्धान्तों (काव्यशास्त्रीय) अथवा यूरोपीय (अंगरेजी, फ्रेंच आदि काव्य-शास्त्र के) सिद्धान्तों के साथ हिन्दी साहित्य (कविता, नाटक आदि) को परखने का परिणाम यह हो रहा है कि सिद्धान्तों पर ही ध्यान बना रहता है और व्यावहारिक रूप में सिद्धान्तों की परख नहीं हो पाती । हिन्दी काव्य-शास्त्र के निर्माण के लिए हिन्दी साहित्य को आधार बनाना परम आवश्यक है । रीतिकालीन आचार्यों पर विचार करते समय आचार्य शुक्ल ने ही लिखा है :—

> " आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ । कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते । काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ । इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था । जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था । पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क वितर्क हो नहीं सकता ।......... सारांश यह कि इन रीति-ग्रंथों पर निर्भर रहनेवाले व्यक्ति का साहित्य

ज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए।"[1]

इन पंक्तियों के आधार पर यह बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि समस्त रीतिकाल में 'आचार्यत्व' का आकर्षण बना रहने पर भी हिन्दी का स्वतंत्र 'काव्यशास्त्र' नहीं बन सका है। आचार्य शुक्ल के पूर्व का साहित्यिक-चिन्तन (आचार्य शुक्ल की ऊपर दी गई पंक्तियों को स्वीकार कर लेते हैं तो) गंभीर रूप धारण नहीं कर सका है। आचार्य शुक्ल ने ही वास्तव में प्रथमतः गंभीर रूप से साहित्यिक चिन्तन किया है। यह ठीक है कि आचार्य शुक्ल को हिन्दी की तुलना में संस्कृत की रचनाएँ अधिक प्रिय थी। किन्तु उन्हें हिन्दी में तुलसी, सूर, जायसी आदि कवि भा गए। इसी तरह हिन्दी की अनेक रचनाओं का (उनकी अभिरुचि के विपरीत रचनाओं का भी— केशव, कबीर आदि) भी उन्होंने साहित्यिक इमानदारी से अध्ययन किया है। अतः शास्त्रीय-चिन्तन (हिन्दी साहित्य के शास्त्रीय-चिन्तन) के लिए उनकी मनोभूमि तैयार हो गई। ऐसी स्थिति में संस्कृत काव्यशास्त्र को आचार्य शुक्ल परम्परा निर्वाह (खानापूर्ति के रूप में) के रूप में नहीं अपना सकते थे। संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का परिष्कार हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के अनुरूप (व्यावहारिक दृष्टि से) होना आवश्यक था। आचार्य शुक्ल का चिन्तन (साहित्यिक-चिन्तन), संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा को स्वीकार करते हुए भी हिन्दी साहित्य का बाना, लिए हुए है। हिन्दी साहित्य का यह बाना (जिसके कारण उन्हें स्वतंत्र रूप से चिन्तन करना पड़ा है) उनका अपना है। यह माना जा सकता है कि शुक्लजी के साहित्यिक-चिन्तन पर तुलसी का नैतिक-बोध छाया है, पर है वह हिन्दी-साहित्य का साहित्यिक-चिन्तन। तुलसीदास के साहित्य को इतना व्यापक रूप इसके पूर्व किसी ने नहीं दिया है। कहना यह है कि शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य को चिन्तन का आधार बनाया है। उनका यह चिन्तन उनकी समीक्षाओं में ('हिन्दी साहित्य का इतिहास' में, अनेक कवियों की समीक्षाएँ लिखते समय) भी दिखलाई देता है। चिन्तामणि के निबन्धों में यह चिन्तन प्रायः शास्त्रीय — (व्यावहारिकता के आधार पर निर्मित) — है। इस चिन्तन को आचार्य शुक्ल ने आरम्भ से ही विश्वास के साथ लिखा है। इसलिए यह चिन्तन व्यावहारिकता का पुट लेते हुए भी सैद्धान्तिक रूप में दृढ़ भित्ति का रूप लिए हुए है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (पंद्रहवां संस्करण) पृ. २२६-२२८.

सिद्धान्तों को पहले लिखना और फिर उन सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्षों का उद्घाटन करना, चिन्तामणि के निबन्धों का उद्देश्य है। 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' निबन्ध ही नही, अन्य निबन्धों में भी ('कविता क्या है?', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' एव 'रसात्मक बोध के विविध रूप') सैद्धान्तिक पक्ष को पहले स्थान मिला है। सिद्धान्तो को आरम्भ में देखने से यदि कोई घबरा जाय तो वह शुक्लजी के व्यावहारिक पक्ष को समझ नहीं सकेगा। शुक्लजी ने आचार्यत्व की दृष्टि से हिन्दी साहित्य को यदि कुछ दिया है तो वह व्यावहारिक पक्ष में ही दिया है। शुक्लजी के इस पक्ष को समझने के लिए हमे उनके सिद्धान्तों को (सिद्धान्तों मे पाए जाने वाले पूर्वाग्रहो को भी) स्वीकार कर लेना पड़ता है। इस स्वीकृति के बाद ही हम उनकी व्यावहारिक समीक्षा का आनन्द ले सकते है।



५. भाषा और शैली

५. भाषा और शैली

चिन्तामणि भाग १, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए निबन्धों का संग्रह है। हिन्दी गद्य की और विशेष रूप से गद्य में भी निबन्धों की यह उत्कृष्ट पुस्तक मानी गई है। इस पुस्तक की भाषा और शैली की कतिपय विशेषताओं का विश्लेषण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

२

विषय की दृष्टि से चिन्तामणि भाग १, के निबन्धों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। १ मनोविकारों से सम्बंधित निबन्ध (भाव या मनोविकार से क्रोध तक,) २. काव्यशास्त्र से सम्बन्धित निबन्ध (कविता क्या है? काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद और रसात्मक बोध के विविध रूप) और ३. समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग और मानस की धर्म-भूमि) ।

इन सभी निबन्धो में आचार्य शुक्ल की भाषा में गरिमा, उदात्तता, दृढ विचार-धारा, अटूट आत्मविश्वास एव पूर्णता का बोध है। भाषा मे वैयक्तिक स्वर उभर कर आया है, जिसके कारण शुक्ल की शैली बन गई है। शुक्ल की भाषा मे शुक्ल को (व्यक्ति को) देखा जा सकता है। व्यक्तिविशेष की भाषा में व्यक्ति को पहचानना व्यक्ति की शैली को पहचानना है। इस दृष्टि से शुक्ल की भाषा और शैली का विश्लेषण नीचे किया जा रहा है।

३

आचार्य शुक्ल के निबन्ध विचारप्रधान कहे गए है। विचारों के लिए (अभिव्यक्ति की दृष्टि से) गद्य उत्तम विधा है। और गद्य में भी निबन्ध सर्वोत्तम विधा है। निबन्धों में किसी विषय से सम्बन्धित बन्धी हुई-श्रृंखला-बद्ध विचारधारा होती है। आदि से अन्त तक निबन्ध की भाषा में अेक क्रम होता है। इस क्रम मे लेखक के विचारो का-विषय से सम्बन्धित-विश्ले-षण होता है। निबन्ध का यह क्रम पहचानना और उस क्रम की पूर्णता को समझना निबन्धकार के व्यक्ति रूप को पहचानना है। अत: निबन्धकार की भाषा का विश्लेषण करने के लिए निबन्धकार के विचारो का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है।

चिंतामणि भाग १, के सभी निबंधो का विश्लेषण यहाँ संभव नही अत: चिन्तामणि भाग १, के एक निबंध 'रसात्मक बोध के विविध रूप' को उदा-हरण स्वरूप मानकर, शुक्ल की भाषा और शैली का विश्लेषण किया जा रहा है। इससे पूर्व भाषा की चिंतामणि की भाषा की) कतिपय सामान्य विशेषताएँ बतलाई जा रही हैं।

विटगनस्टाइन (Ludwig Wittgenstein) का कहना है-'दर्शन एक आदर्श भाषा के निर्माण का प्रयास है। पदों से युक्त ऐसी भाषा का जिन्हें समुचित रूप से परिभाषित किया गया है तथा ऐसे वाक्यों से युक्त भाषा का जो बिना अस्पष्टता के उन तथ्यों का जिनका संदर्भ वे दे रहे हैं, एक तार्किक आकार प्रकटाए। ऐसी पूर्ण भाषा आणविक तर्कवाक्यों पर आधारित रहनी चाहिए। मूलभूत दार्शनिक समस्या इन्ही आणविक तर्कवाक्यों की रचना का विवरण देना है।'[1] विटगनस्टाइन के इस कथन के आलोक में शुक्ल की भाषा को

---

१. दर्शन के सौ वर्ष-जॉन पैसमोर-(अनुवादक : चादमल शर्मा तथा कलानाथ शास्त्री)-पृ. ५२६ तथा ५२७।

स तो प्रथम बात यह दिखलाई देगी कि शुक्लजी की अपनी पारि-
ब्दावली है। अपनी पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर उन्होंने एक
षा के निर्माण का प्रयत्न किया है। उक्त आदर्श भाषा में दर्शन (एक
विचारधारा) है।

ाव या मनोविकारों से संबंधित निबंधो में एवं काव्यशास्त्र से
नबंधो में पारिभाषिक शब्द अधिक आए हैं। समीक्षा संबंधी निबंधो में
के शब्द अपेक्षाकृत कम हैं।

ुक्लजी द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली नीचे दी जा रही है —

पारिभाषिक शब्द	शुक्ल द्वारा दी गई परिभाषा	चिंतामणि भा.१, पृ.सं.
भाव या मनोविकार	नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं।	१.
भक्ति	धर्म की रसात्मक अनुभूति है।	५.
उत्साह	साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।	६.
प्रयत्न	बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार परम्परा का नाम ही प्रयत्न है।	१४.
कर्मण्य	कर्म में आनन्द करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है।	१५.
श्रद्धा	किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते है। श्रद्धा महत्त्व की अनुभूति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।	१७.

क्र स.	पारिभाषिक शब्द	शुक्ल द्वारा दी गई परिभाषा	चिंतामणि भा.१,पृ स.
७	घृणा	अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञानपथ से उन्हे दूर रखने की प्रेरणा करनेवाला जो दुःख होता है, उसे घृणा कहते हैं।	९७.
८.	भय	किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के सक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तभ-कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते है।	१२५.

अब तक जो शब्द दिए हैं (पारिभाषिक शब्दों के रूप में) उनका सम्बन्ध मनोविकारों से सम्बन्धित निबन्धो से है। ऐसे शब्दो की सख्या अधिक है। विस्तार भय से सारे शब्द नही दिए जा रहे हैं। वैसे तो निबन्धों के शीर्षक को पारिभाषिक शब्द कह दिया जा सकता है क्योंकि ऊपर दिए गए उदाहरणों में सख्या २, ४ और ५ को छोड़ दें तो सभी शब्द निबन्धों के शीर्षक हैं। कहना यह है कि शुक्लजी अपने निबन्धों में शीर्षको को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। परिभाषा देने का प्रयास भाषा को एक आदर्श और निश्चित रूप देने का प्रयास है। बौद्धिक रूप से सजग लेखक शब्दों का तौल-तौल कर प्रयोग करता है और व्यर्थ के प्रयोगो से बचता है। शुक्लजी की भाषा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। परिभाषा देना 'शब्द' को निश्चित अर्थ प्रदान करना है। और यह अर्थ तार्किक आधार पर प्रदान करना है। जैसे कि विटगनस्टाइन ने कहा है–'पदों से युक्त ऐसी भाषा का जिन्हें समुचित रूप से परिभाषित किया गया है तथा ऐसे वाक्यों से युक्त भाषा का जो बिना अस्पष्टता के उन तथ्यों का जिनका संदर्भ वे दे रहे हैं, एक तार्किक आकार प्रकटाएँ।' हम देखते हैं कि शुक्ल की भाषा तार्किक है। इस का प्रमाण यह है कि शीर्षकों को निबन्ध के ही नही, निबन्ध के भीतर अनेक शब्दों को शुक्ल ने परिभाषित किया है। जैसे 'ईर्ष्या' निबन्ध मे ईर्ष्या की परिभाषा तो मिलेगी ही किन्तु साथ ही साथ स्पर्धा, वैर, द्वेष, अभिमान आदि को परिभाषित करने का प्रयास है। इसी तरह अन्य निबन्धों मे भी अनेको शब्द हैं, जिनको सदर्भ के अनुसार परिभाषित करने का प्रयास किया गया है।

क्ल की भाषा में विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग है और वह प्रयोग
क अर्थ में है । मनोविकारों से सम्बन्धित निबन्धों की शब्दावली से
द काव्यशास्त्रीय निबन्धों की शब्दावली (पारिभाषिक शब्दावली)
: करें तो शुक्ल की भाषागत विशेषता स्पष्ट करने में सुविधा होगी।
ए कि शुक्ल के मनोविकारों से सम्बन्धित निबन्धों पर विशेष प्रकाश
डाला गया है और न उनका मूल्यांकन ही हुआ है । इस तुलना में
रूप में शुक्लजी को ख्याति प्राप्त है । उनकी काव्यशास्त्रीय शब्दा-
भी मूल्य रखती है। इस प्रकार के कुछ शब्द नीचे दिए जा रहे हैं :-

पारिभाषिक शब्द	शुक्लजी द्वारा दी गई परिभाषा	चिन्तामणि भा. १ पृ. सं.
साधारणी-करण	जब तक किसी भाव का कोई विषय इस तरह नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्-बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।	२२७.
भाव-प्रदर्शक	रौद्र रस के वर्णन में जब तक आल-म्बन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शक मात्र रहेगा।	२२७
भावना या कल्पना	जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है । साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'।	१६१.
	मानसिक रूप-विधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।	२४३.

इस तरह की शब्दावली की संख्या अधिक है। इस तरह के कुछ शब्द और दिए जा रहे हैं। जीना (पृ. १४१), जगत् (पृ १४१), बद्ध-हृदय (पृ. १४१), मुक्त-हृदय (पृ. १४१), मुक्तावस्था (पृ. १४१), अर्थग्रहण (पृ. १४५), बिम्बग्रहण (पृ. १४५), साहचर्य-सम्भूत-रस (पृ १५०), रागात्मक सत्त्व (पृ. १५१), सूक्ति (पृ १५२), काव्यानुभूति (पृ १५२), काव्यदृष्टि (पृ १५६), मार्मिक तथ्य (पृ. १५७), मनुष्यत्व की उच्चभूमि (पृ १६०-१६१), जाति-संकेतवाले शब्द (पृ. १७६), विशेष-व्यापार-सूचक-शब्द (पृ. १७६), वर्ण-विन्यास (पृ. १७९), नाद-सौन्दर्य (पृ. १७९), कार्य-बोधक शब्द (पृ. १८०), लोक-मंगल (पृ. २१३), आनन्द की साधनावस्था (पृ २१४), आनन्द की सिद्धावस्था (पृ. २१४), प्रयत्न-पक्ष (पृ २१४), उपभोग-पक्ष (पृ २१४), शील (पृ. २१८), सौन्दर्य (पृ. २१८) भाव-मण्डल (पृ. २२१), अन्तस्संज्ञा (पृ. २२१), बीजभाव (पृ. २२१), मंगल-विधायिनी-प्रकृति (पृ. २२२), लोकपीड़ा (पृ २२४), रसोद्बोधन (पृ. २२६), आलम्बनत्व धर्म (पृ २३०), शील-द्रष्टा (पृ २३१), प्रकृति-द्रष्टा (पृ २३१), शील-वैचित्र्य (पृ. २३२), अपरितुष्ट भाव (पृ. २३२), अन्त प्रकृति-वैचित्र्य (पृ. २३३), आश्चर्यपूर्ण प्रसादन (पृ. २३३), आश्चर्य-पूर्ण अवसादन (पृ. २३३), कुतूहल (पृ. २३३), निरपेक्ष-दृष्टि (पृ. २३४), अर्थवाद (पृ. २३६), अन्तर्भूमि (पृ. २३७), लोक (पृ. २३७) प्रत्यक्ष-रूप-विधान (पृ २४३), स्मृति-रूप-विधान (पृ. २४३), कल्पित-रूप-विधान (पृ २४३, रसात्मक अनुभूति (पृ २४६), रस का लोकोत्तरत्व (पृ. २४७), विभावन-व्यापार (पृ. २४७), विशुद्ध-स्मृति (पृ. २५३), प्रत्यभिज्ञान (पृ २५५), स्मृत्याभास कल्पना (पृ. २५७), लाक्षणिक प्रक्रिया (पृ. २७०), उपलक्षण या प्रतीक (पृ. २७०) ... आदि आदि.

इसी तरह अंगरेजी के पारिभाषिक (काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक) शब्दों का प्रयोग करते समय शुक्लजी ने उनका हिन्दी अनुवाद किया है। इन शब्दों का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए अंगरेजी का मूल शब्द भी साथ-साथ दिया गया है। इस प्रकार की शब्दावली नीचे दी जा रही है.—

हिन्दी शब्द	अंगरेजी शब्द	पृ. सं.
१ चित्रों	Imagery	११७
२. परम्परायुक्त	Conventional	११८
३. शक्तिकाव्य	Poetry as energy	२१४
४. कलाकाव्य	Poetry as an art	२१४

५	शिक्षावाद	Didacticism	२१८
६.	चेतना का प्रकाश	Conscious	२२१
७.	अन्तस्संज्ञा का क्षेत्र	Sub-conscious region	२२१
८.	स्थिर	Static	२२४
९.	गत्यात्मक	Dynamic	२२४
१०.	बिम्ब	Images	२२८
११.	विचार	Concept	२२८
१२.	अभिव्यंजनावाद	Expressionism	२२८
१३.	संकेत पक्ष	Symbolic aspect	२२९
१४.	प्रत्यक्षीकरण-पक्ष	Presentative aspect	२२९
१५.	निरपेक्ष दृष्टि	Dramatic or absolute vision	२३४
१६.	पुनरुत्थान काल	Renaissance	२३६
१७.	स्वच्छन्दता आन्दोलन	Romantic movement	२३८
१८.	स्वयं-प्रकाश-ज्ञान	Intution	२३९
१९	बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध ज्ञान या विचार-प्रसूत-ज्ञान	Logical knowledge	२३९
२०.	अहं का विसर्जन	Impersonality	२४७
२१.	निःसंगता	Detachment	२४७
२२.	तटस्थ	Transcend	२५४
२३.	व्यापक	Immanent	२५५

६

पारिभाषिक शब्दों का निर्माण (शब्दों को विशेष अर्थ प्रदान करने की प्रक्रिया) करना, दर्शन की भाषा (विचार-प्रधान) का निर्माण करना है। केवल शब्द ही नहीं (स्वतंत्र शब्द मात्र नही) समास (दो एवं दो से अधिक शब्दों से युक्त शब्द) विशेष अर्थों में—पारिभाषिक अर्थों में—शुक्लजी की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। इन सब शब्दों का चयन एवं उन सब का विश्लेषण करने से शुक्ल की भाषा की शक्ति का उद्घाटन हो सकता है। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण यह शुक्ल की भाषा की एक विशेषता है। अस्तु।

७

आचार्य शुक्ल की भाषा की एक और विशेषता यह है कि अपनी पारिभाषिक शब्दावली को शुक्लजी ने तार्किक आकार प्रदान (Logical

form) किया है । इस प्रकार की भाषा में आणविक तर्कवाक्य पाए जाते है। शुक्लजी के तर्कवाक्यों को समझने के लिए उनकी विश्वास-प्रणाली को समझना आवश्यक है । शुक्लजी के अपने निश्चित विश्वास है । उनमें पाया जानेवाला यह विश्वासबोध उनकी भाषा की बहुत बडी शक्ति है और इस विश्वास-बोध के कारण ही उनकी भाषा मे दृढता, स्पष्टता, निर्भिकता आदि गुण पाए जाते है । यो कहना चाहिए कि शुक्लजी ने अपने विश्वासों को बौद्धिक आधार दिया । इस बौद्धिक आधार को तर्कवाक्यों के सहारे प्रस्तुत किया गया है । इन तर्कवाक्यों के आधार पर पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण हुआ है ।

८

विश्वास-प्रणाली और वह भी किसी लेखक की विश्वास-प्रणाली लेखक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाली होती है । शुक्लजी की विश्वास-प्रणाली पर स्वतंत्र निबन्ध लिखा जा सकता है । प्रस्तुत प्रसंग में (भाषा और शैली पर विचार करने की दृष्टि से) इतना कहना काफी होगा कि शुक्लजी की विश्वास-प्रणाली में महावीरप्रसाद द्विवेदी कालीन आदर्श नैतिक बोध है । आज आचार्य शुक्ल का खण्डन होता है या उन्हे पुराना कह दिया जाता है, तो उसका एक कारण आज का नैतिक बोध बदल गया है । यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी कालीन आदर्श, नैतिक-बोध को उच्चतम बौद्धिक आधार (अपनी विश्वास-प्रणाली के कारण) एकमात्र आचार्य शुक्ल ने प्रदान किया है । आश्चर्य इस बात का होता है कि विश्वास पुराने हो जाने पर भी बौद्धिक आधार मे (विश्वासों को प्रदान किया गया बौद्धिक आधार) ज्ञान का दमकता प्रकाश पाया जाता है । शुक्ल का यह प्रकाश भाषा की शक्ति का द्योतक है ।

९

अब हम शुक्ल की विश्वास-प्रणाली से शुक्ल की भाषा में पाए जाने-वाले तर्कवाक्यों का सम्बन्ध जोड़ें । यह सम्बन्ध जोड़ना यद्यपि बहुत कठिन है, फिर भी किंचित प्रयास किया जा रहा है ।

डेविड ह्यूम ने लिखा है :–

'यदि हम पूर्वानुभूति पर विश्वास रखकर तर्क में उतरें और पूर्वानुभूति को अपने भविष्यकालीन अनुमान का मापदण्ड समझें तो हमारे तर्क केवल

सम्भाव्य ही हो सकते हैं और उपरिनिर्दिष्ट विभाजन के अनुसार वे वस्तु एवं उनकी सत्ता तक ही सीमित रहेंगे। तथापि यदि हमारा विवरण ठीक और सन्तोषजनक है तो इस प्रकार के कोई तर्क हो ही नहीं सकते · वस्तु के अस्तित्व सम्बन्धी समस्त तर्क कार्य कारण भाव पर आधारित है और इस संबंध का ज्ञान केवल पूर्वानुभव जन्य होता है, और हमारे सारे प्रायोगिक निगमन इसी धारणा पर अवलम्बित हैं कि भावी सदा भूत के अनुरूप ही होगा। अब इस अन्तिम मान्यता को सम्भाव्य तर्कों अथवा सत्ता विषयक तर्कों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा करना मण्डलाकार परिभ्रमण मात्र होगा। अथवा यह तो साध्य को ही सिद्ध मान लेना है।'[1]

डेविड ह्यूम के इस कथन के संदर्भ में शुक्लजी की विश्वासप्रणाली का अध्ययन किया जा सकता है। इतना तो हम कह ही सकते हैं कि विश्वास पूर्वानुभूति और संस्कारों पर आधारित होते हैं। अतः इस आधार को लेकर यदि हम तर्क करेंगे तो परिणाम वही होगा, जो डेविड ह्यूम ने ऊपर बतलाया है, यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शुक्लजी जो कहते हैं, उस पर उनका पूर्ण विश्वास है। विश्वास और तर्क इन दोनों में प्रथम स्थान (शुक्ल की भाषा में) विश्वास को देना होगा। शुक्लजी के ये विश्वास पूर्वानुभूति और संस्कारों पर आधारित हैं। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी के तर्क पूर्वानुभूत (विश्वास-प्रणाली की दृष्टि से) हैं। यों कहना चाहिए कि जो कुछ शुक्लजी कहते हैं, उस पर उनका विश्वास है और ये विश्वास ही उनकी भाषा को तार्किक रूप प्रदान करते हैं ऐसी स्थिति में शैली में आगमन पद्धति नहीं आ सकती। शुक्लजी प्रायः निगमन पद्धति या शैली में ही लिखते हैं। इस प्रकार की शैली के गुण दोष शुक्लजी की (भाषा में) विश्वास प्रणाली में मिल जाएंगे। प्रायोगिक स्तरों पर भी शुक्लजी आगमन का उपयोग (प्रायः) नहीं करते। ऐसे स्थलों पर भी वे निगमन का उपयोग करते हैं। यों कहना चाहिए कि शुक्लजी की भाषा में उनका विश्वास आरंभ में ही दिखलाई देगा। पहले वे अपनी मान्यता को व्यक्त कर देंगे और बाद में वे उसे अध्यापकीय शैली में समझाते जाएंगे। शुक्लजी के तर्क उनके निबंधों में डेविड ह्यूम के शब्दोंमें मण्डलाकार होंगे।

१०

अब हम तर्कवाक्यों को देखें। इसे समझाने के लिए "रसात्मक बोध के विविध रूप" निबंध के प्रथम दो अनुच्छेदों को लिया जा रहा है। इसमें अलग अलग वाक्य लिखे जा रहे हैं। बाद में उनका विश्लेषण किया जा रहा है।

---

१. मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन – डेविड ह्यूम – (अनुवादक : डॉ. श्रीकृष्ण सक्सेना) – पृ. ३१ और ३२.

प्रथम अनुच्छेद

वाक्य संख्या	वाक्य
१.	संसार–सागर की रूप–तरंगो से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसकी रूप–गति से उसके भीतर विविध भावों या मनो–विकारो का विधान हुआ है।
२.	सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाए बाहरी रूपो और व्यापारो से ही निष्पन्न हुई हैं।
३.	हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावो की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आलम्बन बाहर ही के है–इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही हैं।
४.	जब हमारी आँखें देखने मे प्रवृत्त रहती है तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते है; जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते है।
५	बाहर–भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही।
६	सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगनेवाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौंदर्य, माधुर्य भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं।
७.	सौंदर्य की भावना जगना सुन्दर–सुन्दर वस्तुओ या व्यापारों का मन मे आना ही हैं।
८.	इसी प्रकार मनोवृत्तियों या भावों की सुन्दरता भीषणता आदि की भावना भी रूप होकर मन मे उठती है।
९	किसी की दयाशीलता या क्रूरता की भावना करते समय दया या क्रूरता के किसी विशेष व्यापार या दृश्य का मानसिक चित्र ही मन में रहता है, जिसके अनुसार भावना तीव्र या मन्द होती है।
१०.	तात्पर्य यह है कि मानसिक रूप–विधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।

द्वितीय अनुच्छेद

१.	मन के भीतर यह रूप–विधान दो तरह का होता है।

> या तो यह कभी प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब होता है अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप, रंग, गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान।
>
> प्रथम प्रकार की आभ्यन्तर रूप-प्रतीति स्मृति कहलाती है और द्वितीय प्रकार की रूप-योजना या मूर्ति-विधान को कल्पना कहते हैं।
>
> कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रकार के भीतर रूप-विधानों के मूल हैं प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप-विधान।
>
> अतः रूप-विधान तीन प्रकार के हुए।
>
> (१) प्रत्यक्ष रूप-विधान, (२) स्मृति रूप-विधान और (३) कल्पित रूप-विधान।
>
> इन तीन प्रकार के रूप-विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस कोटि में आ सकें, यही हम यहाँ दिखाना चाहते हैं।
>
> कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र रसानुभूति मानी जाती है।
>
> प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है, इस बात की ओर ध्यान दिलाना इस लेख का उद्देश्य है। (पृ. २४२-२४३)

अब शैली का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रथम अनुच्छेद में दस और दूसरे अनुच्छेद में ९ वाक्य हैं। इन वाक्यों में यदि परस्पर र्पित करें और साथ ही स्वतंत्र रूप से वाक्य के विधान पर विचार स्थिति स्पष्ट होती है।

प्रथम अनुच्छेद

प्रथम वाक्य में ही शुक्लजी अपना विधान प्रस्तुत करते हैं अर्थात् रूप में 'कल्पना का निर्माण' कैसे हुआ ? यह कहा गया है। यदि से पूछा जाय कि कल्पना का निर्माण कैसे हुआ ? और साथ ही

मनोविकारों का विधान कैसे हुआ ? तो इन दोनों का उत्तर सटीक और स्पष्ट साथ ही बिना किसी लागलपेट के सीधा-सीधा (विश्वास के साथ) इस प्रथम वाक्य में है। प्रथम वाक्य में दो वाक्य हैं जो ' और ' अव्यय से जुड़े हुए है। इस वाक्य मे विश्वास और तर्क दोनों को देखना चाहें तो विश्वास की मात्रा अधिक दिखाई देगी और विश्वास के अनुरूप तार्किक विधान प्रस्तुत किया गया है। इसे समझने के लिए इस प्रथम वाक्य को प्रश्नोत्तर के रूप में लिख देंगे और फिर विचार करें .-

प्रश्न : कल्पना का निर्माण कैसे हुआ ?

उत्तर : संसार-सागर की रूप-तरंगो से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण (हुआ है ।)

प्रश्न . मनोविकारो का विधान कैसे हुआ ?

उत्तर : और इसी की (कल्पना की) रूप-गति से उसके भीतर (मनुष्य के भीतर) विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है ।

इस तरह से यदि प्रथम वाक्य के प्रश्न बनाकर उत्तर देखें तो लगता है कथन कितना स्पष्ट है। कोई झिझक नहीं। विचार साफ हैं। फिर विश्वास भी व्यक्त हुआ है। वाक्य में ' ही ' शब्द ध्यान देने योग्य है। ' ही ' शब्द निश्चित विश्वास को व्यक्त करता है (विकल्प का प्रश्न नहीं उठता)। इसी तरह 'और इसी की' पदसमूह में विश्वास दृढ़ होता हुआ दिखलाई देता है। 'और' केवल समुच्चय बोधक अव्यय नहीं, अपितु वह अपने में पिछले वाक्य की सारी शक्ति समेटने का काम करता है। पिछले वाक्य की शक्ति प्राप्त कर बाद का वाक्य और बलवान हो गया है। शुक्लजी ने मनोविकार को ही भाव माना है या यो कहिए कि दोनों शब्दो को एक अर्थ में प्रयुक्त किया है। इसीलिए 'भाव या मनोविकार' लिखा है। अपने इस प्रथम वाक्य को ही शुक्लजी ने बाद के वाक्यों में विश्लेषित किया है।

दूसरे वाक्य में पहला वाक्य निहित है। यहाँ भावो या मनोविकारों को विश्लेषित किया गया है। सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि भावनाएँ हैं (यह मनोविकार का विश्लेषण है)। ये भावनाएँ बाहरी रूपों और व्यापारों से निष्पन्न हुई हैं। बाहरी रूप व्यापार के लिए प्रथम वाक्य में 'संसार-सागर की रूप तरंगें' कहा गया है। पहले वाक्य का विधान ही

दूसरे वाक्य में विश्लेषित हुआ है। कोई नया विधान दूसरे वाक्य मे नहीं है। विस्तार केवल 'भावों या मनोविकारों' को दिया गया है।

तीसरे वाक्य में भावों (प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि) की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आलम्बन बाहर के माने गए हैं। शुक्लजी ने विशेष बात यह कही कि 'मूल आलम्बन बाहर के ही हैं।' बाहर के ही हैं अर्थात् 'संसार-सागर की रूप तरंगों' के ही हैं। कथन प्रथम वाक्य से भिन्न न होने पर भी तीसरे वाक्य में 'मूल आलम्बन' विधान नया है। यह विधान प्रथम वाक्य को विश्लेषित करनेवाला ही है। कहा यह गया है कि 'मूल आलम्बन' बाहर ही के हैं (काफी बल देकर और विश्वास के साथ कहा है) यही नहीं योजक चिह्न (—) लगाकर विधान को (बाहर ही के हैं, विधान को दोहराते हुए (बल देकर) कहा गया- 'इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही हैं।'

चौथे वाक्य में बाहर एवं भीतर का अन्तर स्पष्ट किया गया है। चौथा वाक्य दो वाक्यों का एक वाक्य है। एक का सम्बन्ध बाहर से है और दूसरे का सम्बन्ध भीतर से है। आँख देखने में प्रवृत्त हो तो रूप बाहर प्रतीत होंगे और वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाएगी तो रूप भीतर दिखलाई देंगे। एक प्रकार से तीसरे वाक्य में बाहर (मूल आलम्बन) पर जोर दिया गया था। वह बाहर वाला रूप वृत्ति के अन्तर्मुखी होने पर भीतर दिखाई पड़ता है। बाहर के बिना भीतर नहीं, यह बात शुक्लजी कहना चाहते हैं।

पाँचवें वाक्य में दोनों रूपों की एकता को दोहराते हुए कहा गया कि वास्तव में वे रूप ही हैं। ये रूप संसार-सागर की रूप-तरंगों के हैं।

छठे वाक्य में रूप को विश्लेषित किया गया है। कहा गया कि रूप से भिन्न (बाहर रहने वाले) सौन्दर्य आदि भिन्न पदार्थ नहीं। सुन्दर रूप से अलग सौंदर्य नहीं, मधुर रूप से भिन्न माधुर्य नहीं इसी तरह क्रूर रूप से भिन्न क्रूरता नहीं। इसमें प्रथम बाहर है और दूसरा भीतर है।

सातवें वाक्य में इसी बात को और विश्लेषित किया गया है। कथन एकदम स्पष्ट है। सौंदर्य भावना जगना वास्तव में सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं का मन में आना है। सौंदर्य की भावना जगती है मन में (भीतर) किन्तु जिनके कारण जगती है वे वस्तुएँ बाहर ही हैं। यही बात दोहराई गई है।

आठवें वाक्य में सातवें वाक्य को और स्पष्ट किया गया है। 'इसी

प्रकार ' का संबंध सातवें वाक्य से है। मनोवृत्तियाँ या भावों की सुन्दरता भीषणता आदि की भावना रूप होकर मन में उठती है। एक प्रकार से शुक्लजी ' रूप ' बाहर होते है, इसे फिर स्पष्ट कर रहे है।

नौवें वाक्य मे बाहर-भीतर को व्यावहारिक रूप में समझाया गया है। अंतर केवल यह हैं कि भावना के तीव्र-मंद होने के कारण बतलाए गए हैं। बाहरी रूप-विधान तीव्र होगा (मानस में चित्र बनते समय) तो भावना तीव्र होगी और मंद होगा तो भावना मंद होगी।

दसवे और अन्तिम वाक्य में प्रथम वाक्य को दोहराया गया है और अब तक के वाक्यों का सार प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि मानसिक रूप-विधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।

प्रत्येक वाक्य का विश्लेषण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। हम देखते है कि पूरे अनुच्छेद में प्रथम वाक्य सब से महत्त्वपूर्ण है। बाद के वाक्यों में प्रथम वाक्य के विधान को विश्लेषित किया गया है। इस विश्लेषण में एक क्रम है। यह क्रम श्रृंखलाबद्ध है। एक कड़ी के बाद दूसरी कड़ी खुलती जाती है। इनको जोड़ दो तो प्रथम वाक्य स्पष्ट हो जाता है। अन्तिम वाक्य में अनुच्छेद को पूर्णता प्रदान की गई है। प्रथम वाक्य में विश्वास (ऊपर स्पष्ट किया गया) झलकता है और बाद के वाक्यों में तर्क वाक्यों के आधार पर कथन को स्पष्ट किया गया है। प्रथम वाक्य वास्तव में स्थापना है। बाद के वाक्य तर्कवाक्य हैं, जो स्थापना को विश्लेषित करते हैं। अन्तिम वाक्य में स्थापना का निष्कर्ष है। निष्कर्ष यह है कि कल्पना मानसिक रूप- विधान है।

द्वितीय अनुच्छेद

द्वितीय अनुच्छेद में नौ वाक्य है। वास्तव में आठ वाक्य ही हैं (पाँचवें और छठे दोनो को एक वाक्य माना जा सकता है।) प्रथम अनुच्छेद की तरह द्वितीय अनुच्छेद के प्रत्येक वाक्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता हैं। यहाँ केवल सार प्रस्तुत करते हुए यह कह सकते हैं कि प्रथम अनुच्छेद में यह विधान स्थापित किया गया कि **'कल्पना' 'मानसिक रूप-विधान है'।** इस मानसिक रूप-विधान का वर्गीकरण इस अनुच्छेद में किया गया है। संक्षेप मे वाक्यों के क्रम का विश्लेषण इस प्रकार होगा। प्रथम वाक्य में कहा गया कि मानसिक रूप-विधान दो तरह का होता है दूसरे वाक्य में

दोनों विकल्प प्रस्तुत किए गए तीसरे में एक विकल्प का अन्तर्विभाजन और उनका नामकरण है। चौथे में प्रथम अनुच्छेद को दोहराया गया और कहा गया कि ये सब रूप-विधान ही हैं। पाँचवा-छठा रूप-विधानों (तीन प्रकार के) के नामकरण बतलाते हैं। सातवें वाक्य में कहा गया कि इन तीनों प्रकारों में भावों को जाग्रत करने की शक्ति होती है और वे रस-कोटि में आ सकते हैं, यह दिखलाना है। आठवें में और नौवें में लेख के विशेष उद्देश्य को स्पष्ट किया गया है।

११

दोनों अनुच्छेदों के विवरणों को देखने के बाद अब शैली को स्पष्ट किया जा सकता है। भाषा-शैली पर विचार करते समय यह देखना पड़ता है कि भाषा-प्रयोग कैसे हैं और व्यक्त विचारों का क्रम क्या है? निबंध का शीर्षक 'रसात्मक बोध के विविध रूप' है। इस शीर्षक से संबंधित शुक्लजी के जो विचार हैं (मान्यताएं आदि) उसी को इस निबंध में लिखा गया है। हम देखते हैं कि प्रथम दो अनुच्छेदों में शुक्लजी ने विषय (लेख के विषय) और तत्सम्बन्धी उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया। निबंध का आगे का भाग (ऊपर विश्लेषण नहीं किया गया) भी यदि देखा जाय तो तीनों रूप-विधानों को स्पष्ट करने में वही शैली आगे बढ़ती है, जो प्रथम दो अनुच्छेदों में है। शुक्लजी जैसे जैसे विचार करते जाते हैं, वैसे वैसे (विचार भाषा के अभाव में व्यक्त नहीं हो सकते) वे लिखते जाते हैं। विचार स्पष्ट होने के कारण भाषा स्पष्ट है। स्पष्ट ही नहीं, अपने विचारों पर विश्वास होने के कारण स्पष्टता में विश्वास झलकता है। 'ही' शब्द का प्रयोग शुक्लजी बार बार करते हैं। प्रथम अनुच्छेद में दस में से सात वाक्यों में 'ही' का प्रयोग किया गया है। एक वाक्य से दूसरे वाक्य का सम्बन्ध जोड़ने में शुक्लजी सर्वनामों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के प्रयोग में सर्वनाम शब्द पर काफी बल होता है। 'इसी', 'इसी प्रकार', 'यह' एवं 'और' (समुच्चय बोधक अव्यय) भी केवल जोड़ने का काम नहीं करते बल्कि वाक्यों को परस्पर जोड़ते हुए बाद में आने वाले वाक्य में पहले वाक्य के बल को समेटते दिखलाई देते हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति अपने (शुक्लजी के अपने) विचारों में आस्था रखने के कारण ही आ सकी है। अगला वाक्य लिखते समय शुक्लजी यह भूलते नहीं कि पीछे क्या लिखा गया है। अपने विश्वासों को (पूर्व कथनों को, वे बार बार (विचारों के रूप में ही) दोहराते हैं। जैसे दूसरे अनुच्छेद के चौथे वाक्य में 'कहने की आवश्यकता नहीं कि' इस तरह के विधान (दोहराने वाले विधान) शुक्लजी

की भाषा मे जगह जगह पाए जाते हैं। कुछ उदाहरण दिए जा रहे है — 'बात यह है कि' (पृ २४४). 'तात्पर्य यह है' (पृ. २४७) 'हमारा कहना यह है कि' (पृ. २४७) 'जैसे कह आए हैं' (पृ. २५५); 'कहने कि आवश्यकता नहीं कि (पृ. २५६) 'एक बात कह देना आवश्यक है कि' (पृ.२५९); 'यह तो हुई' (पृ, २५९), 'पहले कहा जा चुका है' (पृ. २६१); 'जैसा कि हम अनेक स्थलों पर कह चुके हैं' (पृ. २६४) 'सच पूछिए तो' (पृ २६४) 'अब तक जो कुछ कहा गया है' (पृ. २६७) 'हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं' (पृ. २६७); 'यहाँ पर इतना ही समझ रखना आवश्यक है' (पृ २६७) आदि आदि। ये सभी उदाहरण एक ही निबन्ध रसात्मक–बोध के विविध रूप से दिए गए हैं। इस प्रकार का पदसमूह शैली की दृष्टि से यह स्पष्ट करता है कि लिखने वाला अपने विचारो के प्रति सजग है, सावधान है, जो कुछ पीछे कहा गया है, उसे अच्छी तरह जानता है। यो ही कुछ लिखना है, यह समझकर नहीं लिख रहा है। भाषा-प्रयोग के आधार पर विचारों का क्रम अब स्पष्ट किया जा सकता है। डेविड ह्यूम का कथन है—'.मानव के विविध विचार सदा परस्पर सम्बद्ध होते हैं।'[1] शुक्लजी के विचार (पूर्वानुभूत एव संस्कारों से युक्त विश्वासजन्य होने के नाते) आरम्भ से ही स्पष्ट प्रतीत होते हैं। लगता है जो विचार पहले वाक्य मे (विधान के रूप में) व्यक्त किया, गया आगे आनेवाले वाक्यों में स्पष्ट होता जा रहा है। विचारो की दृष्टि से शुक्ल को समझना हो तो हमे वाक्यों के क्रम में से किसी वाक्य की (विशेष रूप से वे वाक्य जहाँ उदाहरण नही दिए गए हैं और सिद्धान्तों का मण्डन हो रहा हो) उपेक्षा नही करनी चाहिए। पहले वाक्य के बाद यदि चौथा वाक्य पढ़ ले (बीच के दोनों वाक्यों को छोड़ दें) तो विचारों का क्रम टूट जायगा। शुक्लजी संभवत इसीलिए अपने पूर्वकथनों को बार बार दोहराते हैं कि पाठक सम्भवत पिछले क्रम को कहीं भूल तो नही गया। इस प्रकार की शैली से विचारों का क्रम लिखनेवाले के मस्तिष्क मे बना हुआ है, यह स्पष्ट हो जाता है।

१२

चिन्तामणि भाग १, के निबन्धों की भाषा और शैली का विश्लेषण अति संक्षेप मे प्रस्तुत किया गया है। अब तक के कथनों को समेटते हुए यह

---

१. मानव बुद्धि सम्बधी विवेचन—डेविड ह्यूम—(अनु' डॉ. श्रीकृष्ण सक्सेना . पृ २′.)

कहा जा सकता है कि चिन्तन में मौलिकता होने के कारण एवं विचारों में पूर्वानुभूत अनुभव होने के नाते, तथा संस्कारों से युक्त विश्वास प्रणाली होने के नाते, (यह विश्वास-प्रणाली महावीरप्रसाद द्विवेदी युगीन नैतिक-बोधसे युक्त है) शुक्ल की भाषा में विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग हुआ है। शुक्लजी ने शब्दों को नया अर्थ प्रदान किया है और उनकी इस गुणवत्ता के कारण हिन्दी में (गद्य में) कसावट आई है। हिन्दी की यह कसावट---गद्य की कसावट---आज भी आदर्श है। आदर्श भाषा का निर्माण---पारिभाषिक शब्दों का निर्माण---शुक्ल की भाषा की अपनी विशेषता है। आज भी काव्यशास्त्र की चर्चा में, विचार-विनिमय में, समीक्षा आदि में और इसी तरह किसी विषय के विश्लेषण में शुक्ल की शब्दावली का प्रयोग होता है। शुक्ल के समय की नैतिक मान्यताएँ अब नहीं रह गई हैं, विचारधारा बदल गई हैं किन्तु इस बदलती परिस्थिति में शुक्ल का गद्य हमारे लिए आज भी आदर्श है तो केवल इसीलिए कि शुक्ल के चिन्तन में स्पष्टता है और साथ ही चिन्तन के प्रति-अपने चिन्तन के प्रति-दृढ़ विश्वास है।

६. नैतिक मान्यताएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विचारधारा पर उनकी नैतिक मान्यताओं का प्रभाव है। उनका यह प्रभाव उनके दृढ़ व्यक्तित्व का द्योतक है। इस प्रभाव के कारण वे जगह जगह निर्णय देते चलते हैं। निर्णय देने की क्षमता मान्यताओं के निश्चित हो जाने पर ही आ सकती है। शुक्लजी की शक्ति का रहस्य उनकी नैतिक मान्यताएँ हैं और इसी तरह उनकी कमजोरी भी नैतिक मान्यताओं में निहित है। इन मान्यताओं का विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

—२—

जान ड्यूई ने लिखा है— "नीतिशास्त्र का उद्देश्य सही या गलत अथवा अच्छे या बुरे के दृष्टिकोण से आचरण के सम्बन्ध में हमारे निर्णयों का

विधिवत् विवरण देना है।[1] हम देखते है कि शुक्लजी आचरण के सम्बन्ध में विधिवत् निर्णय देते रहते हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि उनकी नैतिक मान्यताएँ स्थिर हो गई थी। शुक्लजी के व्यक्तित्व को एक प्रकार से नैतिक व्यक्तित्व भी कहा जा सकता है। उनका यह व्यक्तित्व उनके द्वारा दिए गए निर्णयों के आधार पर पहचाना जा सकता है। शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं का विवेचन उनके द्वारा दिए गए निर्णयों के आधार पर ही किया जा रहा है। इस विवेचन में खण्डन–मण्डन पक्ष भी आ जाता है। इससे बचकर शुक्लजी के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने का प्रयास किया जा रहा है।

—३—

यह पहले ही कह दें कि शुक्लजी की स्थापनाओं, चाहे वे समीक्षा सम्बन्धी हों, काव्यशास्त्र सम्बन्धी हों या इतिहास (साहित्य का इतिहास) सम्बन्धी हो, इन सब पर, उनकी नैतिक मान्यताओं की अमिट छाप है। शुक्लजी का विरोध करनेवाले वास्तव मे उनकी नैतिक मान्यताओं का ही विरोध करते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक ‘ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी ’ मे शुक्लजी से अपना मतभेद व्यक्त करते हैं। इस समय में वे शुकलजी की मान्यताओं का खण्डन करते हैं। सच देखा जाए (और ध्यान से देखा जाय) तो मान्यताओं का यह खण्डन, नैतिक मान्यताओं का खण्डन है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :–

(१) “रामचरित–मानस के जिस व्यापक आदर्श की ओर शुक्लजी सब से अधिक आकृष्ट हैं, वह है लोक–धर्म का आदर्श। समाज में सभी व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति किसी न किसी सम्बन्ध सूत्र से बँधे हुए है। इन समस्त सम्बन्धो का निर्वाह समाज के सुचारु संचालन के लिए अत्यावश्यक है, किन्तु सुचारु सचालन तभी संभव है जब सभी लोग अपने–अपने कर्तव्य को समझें। कर्तव्यों का बडी ही सुन्दर और आदर्श प्रतिष्ठा राम-चरित मे पाई जाती है। दूसरे शब्दों मे लोक–धर्म का बडा ही उत्कृष्ट निरुपण उक्त काव्य मे किया गया है। अवश्य ही वह निरुपण आदर्शात्मक है, क्योंकि उसमें सर्वत्र कर्तव्य पक्ष की ही प्रधानता है। किसी को अपने अधिकारों का ध्यान नही

---

१. नैतिक जीवन का सिद्धान्त – जॉन ड्यूई (अनुवादक : कृष्णचन्द्र) भूमिका-पृ १

रखना, सब को कर्तव्य का ही पालन करना है। इसी आदर्शात्मक लोक–धर्म में शुक्लजी की वृत्ति रम गई है, इस त्यागमय धर्म को ही वे व्यवहार-धर्म मानने लगे हैं।" [1]

शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं का सब से बड़ा आधार रामचरित मानस है। मानस का यह आदर्श सुहावना प्रतीत होने पर भी वह आदर्श निष्क्रिय है तथा वैराग्यमूलक है, ऐसा वाजपेयीजी का कहना है। वे लिखते हैं:

"रामचरितमानस के इस वैयक्तिक त्यागपक्ष का जब तक पूर्णतः उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक कर्तव्य–पक्ष को उसकी उचित आभा नहीं मिल सकती। शुक्लजी ने वैराग्यमूलक निष्क्रिय अध्यात्म के मुकाबले इस क्रियाशील लोकधर्म की आवाज उठाई है जो सुनने में बड़ी सुहावनी मालूम देती है, किन्तु उन्होंने भारतीय लोक–धर्म की त्यागमूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रखा। वे एक प्रकार से इसकी उपेक्षा कर गए हैं जिसके कारण भारतीय प्रवृत्ति–मार्ग और निवृत्ति मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएं शुक्लजी द्वारा परस्पर विरोधिनी, बना दी गई हैं। स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल में भी। दोनों का आधार एक ही है किन्तु शुक्लजी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्लजी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।"[2]

वाजपेयीजी यहाँ एक प्रकार से शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं का ही विश्लेषण कर रहे हैं। शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं ने उनके साहित्यिक निर्णयों को प्रभावित किया है। इस सम्बन्ध में वाजपेयीजी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :–

'वे (शुक्लजी) अपने युग की बाह्य आदर्शवादी नीतिमत्ता के हामी होने के कारण व्यवहारों का जो व्यक्त सौंदर्य देखना चाहते

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी–नंददुलारे वाजपेयी–(१९५८) वाला संस्करण–पृ.७२.

२. –वही–पृ. ७३.

हैं वह उतनी प्रचुर मात्रा में न तो सूरदासजी में मिलता है और न आधुनिक छायावाद या रहस्यवाद के काव्य में ही। यही कारण है कि वे एक ओर गोस्वामी तुलसीदास और उनके मानस महाकाव्य के सामने सूरदास के भाव भरे पदों को स्थान नहीं देते और दूसरी ओर नवीन समुन्नत गीतकाव्य के ऊपर ऐसी साधारण प्रबन्ध रचनाओ को रखना चाहते हैं जैसे काव्य में 'नूरजहाँ' या 'हल्दीघाटी' अथवा गद्य में 'शेष स्मृतियाँ'। जायसी बेचारे बीच में पड़ गए हैं। एक ओर तो वे प्रबन्ध कथा-नक के रचयिता हैं और दूसरी ओर रहस्यवादी। मैं कह सकता हूँ कि शुक्लजी ने उनकी प्रबन्ध पटुता की जितनी प्रशंसा की है और बाह्य जीवन व्यापारों का जितना विवरण दिया है, उनके रहस्यवाद की ओर वे उतने आकृष्ट नहीं हैं। कहा नहीं जा सकता कि जायसी के बदले उन्हें कोई मुक्तककार रहस्यवादी सूफी कवि दे दिया जाय तो वे उसकी कितनी कद्र करेंगे? मेरा अपना अनुमान तो यह है कि हाफिज, रुमी या शेख सादी जैसे बड़े से बड़े कवि भी उन्हें नहीं जचेंगे, क्यों कि वे शुक्लजी की बंधी हुई परिपाटी पर नही चले हैं। उनकी रुचि और परख में वे पूरे नही उतर सकते'[1]

इन पंक्तियों में शुक्लजी की साहित्यिक अभिरुचि का उद्घाटन हुआ है। उनकी यह अभिरुचि नैतिक मान्यताओं से आक्रान्त है, यह भी स्पष्ट है।

वाजपेयीजी ने इस तरह आचार्य शुक्ल की साहित्यिक मान्यताओं एवं उन मान्यताओंसे सम्बद्ध नैतिक मान्यताओं तथा दार्शनिक उपपत्तियों का विश्लेषण विस्तार से किया है। वाजपेयीजी के आचार्य शुक्ल पर लिखे हुए इन तीनों ही निबंधों मे (हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी मे लिखे) आचार्य शुक्ल का जहाँ-जहाँ खंडन हुआ है, उस खंडन में एक बात ध्यान रखने योग्य यह है कि यह खडन मूलतः आचार्य शुक्ल की नैतिक मान्यताओं का खंडन है। आधार ही काट दो तो आगे का उस आधार पर किया गया मूल्यांकन अपने आप कट जायगा। आधार को (नैतिक मान्यता को)

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी नंददुलारे वाजपेयी (१९५८ वाला संस्करण) पृ. ७२.

स्वीकार कर लेते हैं, तो खंडन संभव नहीं है। सच्चाई तो यह है कि खंडन-मंडन को छोड़कर निबन्धों में व्यक्त नैतिक मान्यताएँ समाजशास्त्रीय धरातल पर समझाई जा सकती हैं। इतना तो हम सब स्वीकार करेंगे कि शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं का वैज्ञानिक विश्लेषण अब तक नहीं हुआ है। नैतिक मान्यताएँ गुण-दोष से युक्त हो सकती हैं किन्तु गुणदोष सामाजिक संदर्भ में ही बतलाए जा सकते हैं। नैतिक मान्यताओं का अध्ययन इसीलिए समाजशास्त्रीय हो सकता है। चिन्तामणि भाग १, के निबन्धों के आधार पर इस दृष्टि से यह विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस विवेचन में शुक्लजी के निर्णयों को (सामाजिक संदर्भ में दिए गए निर्णयों को) तथ्य रूप में स्वीकार किया गया है और इसी आधार पर निष्कर्ष रूप में मान्यताएँ स्पष्ट की जा रही हैं।

५

मनोविकारों से सम्बन्धित लिखे गए निबन्धों में मनोविकारों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन शुक्लजी ने सामाजिक आधार पर ही किया है। इन निबंधों को केवल मनोवैज्ञानिक निबन्ध नहीं कहा जा सकता। शुक्लजी इन निबन्धों में अपनी नैतिक मान्यताओं को व्यक्त कर देते हैं। नैतिक मान्यताएँ सदैव सामाजिक-व्यवस्था से सम्बद्ध होती हैं। समाज निरपेक्ष नैतिक मान्यताओं की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः किसी समाज-विशेष में मान्य मान्यताएँ दूसरे प्रकार के समाज में भी मान्य होंगी या उन्हें स्वीकार कर लिया जायगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी तरह एक युग विशेष की मान्यताएँ, उस युग-विशेष के समाज से सम्बद्ध रहेंगी और उनका स्वरूप युग-विशेष के बदलने पर बदल सकता है। मान्यताओं के बदल जाने पर भी उनका महत्त्व ऐतिहासिक तो कम से कम रहता ही है और यदि वे मान्यताएँ बाद में भी प्रचलित रहती हैं तो उनका मूल्य निश्चित रूप में महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। यहाँ कहना यह है कि शुक्लजी की नैतिक मान्यताएँ भारतीय परम्परा से सम्बद्ध होते हुए भी शुक्लजी के अपने युग की समाज विशेष में प्रचलित मान्यताओं को व्यक्त करनेवाली हैं। यदि हम शुक्ल को शुक्ल-युग की (महावीरप्रसाद द्विवेदी कालीन) नैतिक मान्यताओं को बौद्धिक रूप में विश्लेषित करनेवाला मान लें और उस संदर्भ में शुक्लजी का समाजशास्त्रीय (नैतिक मान्यताओं का समाजशास्त्रीय) अध्ययन करें तो यह अध्ययन रोचक हो सकता है। यह तो आज भी निस्संकोच कहा जा सकता है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी कालीन सब से श्रेष्ठ चिन्तक हिन्दी में यदि कोई हुआ है, तो वह शुक्ल ही हैं। वैसे तो आज भी हमें शुक्ल का अभाव खटकता है

और पग-पग पर उनसे सहमत न होते हुए भी विवश होकर उन्हीं से बल प्राप्त कर हमें चलना पड़ रहा है। शुक्लजी की यह शक्ति उसी समय पहचानी जा सकती है, जब हम उनकी नैतिक मान्यताओं का समाजशास्त्रीय आधार खोज लें। यह अध्ययन स्वय एक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ इस अध्ययन के कुछ आधार एव स्थूल नैतिक निर्देशों को दिखलाकर ही (जिसे शुक्लजी की नैतिक मान्यताओं का बल भी कहा जा सकता है) संतोष किया जा सकता है। यह अध्ययन की इति नही, अथ है ऐसा मानना चाहिए।

६

सब से पहले जो बात हम शुक्लजी में देखते हैं, वह है उनका सामाजिक चिन्तन। शुक्लजी व्यक्ति के संदर्भ में नहीं, समाज के संदर्भ में सोचते हैं। व्यक्ति को विशेष मानने पर भी उस व्यक्ति में जिस धर्म को वे खोजते है, वह धर्म सामाजिक है। शुक्लजी ने धर्म को समझाने के लिए मानस का सहारा लिया है। चिन्तामणि भाग १ में 'मानस की धर्म-भूमि' निबन्ध उनके इसी प्रकार के विचारों का परिणाम है। धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है: "धर्म है ब्रह्म के सत्सस्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल-विश्व-स्थिति मे मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमडल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टि रूप मे, अखिल-विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है।" (पृ. २०७). धर्म की इस व्याख्या में शुक्लजी का ध्यान परिवार से लेकर समस्त भूमडल के मानव समाज की स्थिति-रक्षा पर है। अपने इस कथन की शुक्लजी ने स्थान-स्थान पर मीमांसा की है और इसके व्यावहारिक पहलुओं पर विचार भी किया है और इस तरह के पात्रों की, जो स्थिति-रक्षा में सहायक रहे हैं, उनकी प्रशसा भी की गई है। अतः धर्म के संबंध में इस कथन की दार्शनिक व्याख्या करने के बजाय हम उनके दिए गए निर्णयों को और समाज-व्यवस्था संबंधी विचारो को देख सकते हैं।

७

यह तो मानना पड़ेगा कि शुक्लजी की मान्यताएँ (नैतिक मान्यताएँ) जिस समाज पर—समाज दर्शन पर—आधारित है, वह हिंदू समाज है। इस संबंध में उन्हे अपनी परपरा पर गर्व है और अपने में अटूट आत्मविश्वास है। इसके प्रमाण में निम्न लिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :—

संसार से तटस्थ रहकर शांति सुखपूर्वक लोक-व्यवहार संबंधी उपदेश देनेवालों का उतना अधिक महत्त्व हिंदू-धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्त्विक विभूति की ज्योति जगानेवालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन-द्वारा कर्म-सौंदर्य संघटित करनेवाले ही अवतार कहे गए हैं।" (पृ. ४२)

इस विश्वास के अनुसार शुक्लजी रामचरितमानस का मूल्यांकन करते हैं। राम उनका आदर्श पात्र हैं। इस कसौटी को लिए हुए जब वे मूल्यांकन करते हैं या निर्णय देते हैं, तब उनका नैतिक दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट होता है। शुक्लजी की नैतिक मान्यताएँ रूढ़िजन्य कितनी हैं और अपने चिंतन के आधार पर उसमें वे किस प्रकार का संशोधन चाहते हैं और इस संशोधन में उनके युग की सामाजिक स्थितियों का चित्र वे किस प्रकार से खींचते हैं, यह सब, जब तक स्पष्ट नहीं होता तब तक शुक्लजी की अपनी निजी मान्यताएँ स्पष्ट नहीं हो सकतीं। जॉन ड्यूई ने नैतिक सिद्धांतों को दो भागों में विभाजित किया है। (१) रूढ़िजन्य नैतिकता और (२) विमर्शात्मक नैतिकता। जहाँ तक शुक्लजी की नैतिक मान्यताएँ परंपरा पर आश्रित हैं, नैतिकता के उस स्वरूप को रूढ़िजन्य ही कहा जा सकता है। अपने चिंतन के आधार पर जहाँ-जहाँ वे आवश्यकतानुसार नैतिकता को विमर्शात्मक रूप देते चलते हैं, वहाँ-वहाँ हम उनको शुक्लजी की अपनी निजी नैतिक मान्यताएँ कह सकते हैं। इससे पहले हम दोनों प्रकार की नैतिकता का अन्तर देख सकते हैं।

८

जॉन ड्यूई ने रूढ़िजन्य नैतिकता और विमर्शात्मक नैतिकता का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है। "रूढ़िगत नैतिकता का परिणाम कुछ निश्चित आदेश, नियम और निश्चित विधि-निषेध होते हैं, जब कि विमर्शात्मक नैतिकता में ऐसा नहीं होता" .. आगे और लिखा है :- "नैतिकता का सिद्धान्त — (१) मनुष्य के मन में पैदा होनेवाले विभिन्न प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों का सामान्यीकरण करता है और इस प्रकार वह एक दुविधाग्रस्त और परेशानी में पड़े हुए व्यक्ति को इस बात में सहायता देता है कि वह अपनी विशिष्ट समस्या को एक अधिक व्यापक प्रसंग में रखकर उसका समाधान खोज सके। (२) वह यह बता सकता है कि जिन्होंने इस

तरह के विषयों पर विचार किया है, उनके इस प्रकार की समस्याओ को बौद्धिक दृष्टि से हल करने के मुख्य-मुख्य तरीके क्या है, और वह व्यक्तिगत विचार-विमर्श को अधिक विधियुक्त और प्रबुद्ध बना सकता है। क्योंकि वह ऐसे विकल्प सुझा सकता है, जिनकी उसके बिना उपेक्षा कर दी जाती और मनुष्य के विवेक और निर्णय को अधिक सगत और समजस बना सकता है...विमर्शात्मक नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उससे विमर्श और अनुचिन्तन से व्यक्ति अपने लिए स्वय निष्कर्ष निकाल सकता है। व्यक्ति के लिए पहले से तैयार और गढे-गढाए निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न विमर्शात्मक नैतिकता के स्वरूप का ही व्याघात है।"[1] इस आलोक में शुक्लजी की नैतिक मान्यताओ पर विचार हो सकता है।

यह तो हम देखते है कि शुक्लजी के पास समस्याओं का हल —सामाजिक समस्याओं का हल—मौजूद है। और यह हल कर्तव्य पक्ष को अधिक व्यक्त करनेवाला है। शुक्लजी की नैतिक मान्यताओ मे इसीलिए रुढ़िजन्य नैतिकता का पुट अधिक है। रुढिजन्य नैतिकता के कुछ उदाहरण दिए जा रहे है।

> (१) "जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करनेवाला क्षात्र-धर्म है। क्षात्र-धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय है। क्षात्र-धर्म एकान्तिक नही है। उसका सम्बन्ध लोक-रक्षा से है . कर्म सौंदर्य की योजना क्षात्र जीवन में जितने रूप में सभव है, उतने रूपों मे और किसी जीवन में सभव नही। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप-माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ परदुखकातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन इत्यादि कर्मसौंदर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते है? इसी से क्षात्र धर्म-के सौंदर्य मे जो मधुर आकर्षण है वह अधिक व्यापक, अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियो को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने का सामर्थ्य उसमें है।" (पृ. ४३)

---

१. नैतिक जीवन का सिद्धात-जॉन ड्यूई-(अनुवादक-कृष्णचन्द्र.) पृष्ठ. ५ और ६

एक प्रकार से यह कथन (जिसमें आदर्श राम के गुण है) सभी सामाजिक समस्याओं का हल प्रस्तुत करनेवाला प्रतीत होता है। राम की शरण में जाते ही समस्याओं का हल (राम में विश्वास रखने के नाते) अपने आप हो जाएगा। यदि इस कथन को विश्लेषित करे और व्यावहारिक दृष्टि से थोडी गहराई से विचार करे तो लगेगा कि इस कथन में रुढ़िजन्य नैतिकता का भाव निहित है। ऐसा क्यों प्रतीत होगा ? यह प्रश्न पूछा जा सकता है। ऐसा इसलिए प्रतीत होगा कि रामचरितमानस के राम (अपने आप में आदर्श होते हुए भी और सामाजिक समस्याओं का निदान प्रस्तुत करनेवाले होते हुए भी) एक विशेष प्रकार की समाज–व्यवस्था से सम्बद्ध है। अतः बदली हुई सामाजिक व्यवस्था के सदर्भ में उस अतीत का स्वप्न देखना एक प्रकार से रुढि का आग्रह करना है। रुढिवादियों के सम्बन्ध में कहा है– " सक्षेप में हम कह सकते हैं कि रुढिबद्ध धारणाएँ, स्थितियो को अर्थ प्रदान करती हैं अर्थात् उनके द्वारा तत् तत् सदर्भों में सीमाएँ निर्धारित होती रहती है। वह स्थिति विशेष की व्याख्या या परिभाषा व्यवहारों में सभावित अथवा वास्तविक रूप में करने का प्रयत्न करती रहती हैं। इस प्रकार से किसी स्थिति–विशेष की व्याख्या या परिभाषा करना सदैव अपेक्षित स्थितियों की स्वीकृतियो में बद्ध रहना है। साथ ही रुढिवादी को नैतिक दायित्वों का निर्वाह करना पडता है और यह स्थिति सस्कृति के प्रतिमान या मानक (Cultural norm) की अभिव्यक्ति होती है। वे स्थितियाँ, जिनके बीच रुढिवादियो का विकास होता है और वे आगे बढते रहते हैं; सस्कृति–विशेष से सम्बद्ध होते हुए प्राय वे सामूहिक सघर्ष और नेतृत्व से सम्बन्ध रखनेवाली होती हैं।"[1] किम्बाल यग के इस कथन के सदर्भ मे यदि

---

1 "We may say, in short, that the function of a stereotype is to give meaning to a situation, that is, to delimit behavior with reference to it. It defines the situation in terms of acts, potential or actual This definition of the situation always involves the operation of expectation and acceptance. This, in turn, makes for regularity and hence for prediction and control. Furthermore, a stereotype may well have to do with moral action, in which case it becomes an expression of a cultural norm. The situation from which stereotypes develope and continue in the culture are largely those concerned with group conflict and leadership."

Handbook of Social Psychology
By—Kimball Young. Revised editon of 1963. printed in Great Britain by Butler Tanner ltd. London—page-189.

शुक्लजी की ऊपर दी गई पंक्तियों को देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि शुक्लजी ने स्थिति विशेष को अपेक्षित अर्थ प्रदान किया है। क्षात्र-धर्म की अपूर्व महिमा दिखलाई गई है। और जैसे कि कहा गया है, इनका सम्बन्ध सामूहिक --संघर्ष और नेतृत्व से है।

—९—

शुक्लजी की नैतिक मान्यताएँ परम्पराओं का समर्थन करती जान पड़ती हैं। उन्होने अपनी बौद्धिक क्षमता से परम्पराओं की व्याख्या वैज्ञानिक रूप में की है। शुक्लजी की बौद्धिक क्षमता से हम इतने आक्रान्त हो जाते हैं कि सहज ही मे यह नही सोच सकते कि यह परम्पराओं का समर्थन है। हिन्दू-संस्कृति से प्रभावित समाज निश्चित रूप से शुक्लजी की व्याख्याओं, विश्लेषणो एवं विवेचनो, चाहे वह मनोविकारों से सम्बन्धित हो या अन्य विषयों पर हो, से बल ग्रहण करता है। मनोविकारो से सम्बन्धित निबन्ध एक प्रकार से आचरण के विधि-निषेधों से युक्त है, किन्तु इन विधि-निषेधों को वैज्ञानिक रूप दिया गया है। एक प्रकार से हिंदु-संस्कृति के अनुसार लिखी गई आचरण-संहिताएँ, इन निबंधों में अनकहे ही व्यक्त हो गई हैं या कह दी गई हैं। ऐसा आभास सहज ही में इसलिए नहीं होता कि स्थिति-विशेष को परिभाषित किया गया है और वर्गीकरण आदि करते हुए, वैकल्पिक स्थितियो पर विचार करते हुए, मनोविकार विशेष को शुक्लजी ने विषय-प्रधान (वैज्ञानिक) बनाने का प्रयास किया है। जैसे कि पहले ही कहा गया है शुक्लजी का यह सारा विश्लेषण कर्तव्य-पक्ष पर अधिक प्रकाश डालता है। यों कहना चाहिए कि यह सारा लेखन व्यक्ति के लिए होते हुए भी व्यक्ति की निजी समस्याओं के हल की दृष्टि से नहीं है। यह सारा लेखन व्यक्ति को समाज का एक अंग मानकर समाज की स्थिति रक्षा के लिए (लोकमंगल के लिए) किया गया है। इस स्थिति में व्यक्ति को समाज से कुछ पाने की अपेक्षा कम है, इसके विरुद्ध व्यक्ति को समाज के लिए अपनी ओर से देना ही देना है। शुक्लजी का यह समाज-दर्शन इसीलिए एकांगी हो गया है। यह समाज-दर्शन व्यक्ति को समाज के संदर्भ में देखता है, समाज को व्यक्ति के संदर्भ में नही देखता।

१०

नैतिक मान्यताओं में विमर्श को कितना स्थान प्राप्त है इस पर भी विचार होना चाहिए विमर्शात्मक नैतिकता का स्वरूप उस समय स्पष्ट

होता है जब हम लेखक को अन्तर्द्वन्द्वों की स्थिति से गुजरते हुए देखे। यही नही वह अपने युग की ऐतिहासिक यथार्थ रेखाएँ खीचकर, युग के आक्रोश को, युग की पीडाओं को तथा युग की समस्याओं को व्यक्त करे और इन सब को व्यक्त करते समय अपने विमर्श या चिन्तन के आधार पर निर्णय दें। इस प्रकार के निर्णयो में ही लेखक की विमर्शात्मक नैतिकता झलक सकती है। इस दृष्टि से जब हम शुक्लजी के निबन्धो को देखते हैं, तो हमें निराश होना पड़ता है। जिस लेखक मे अपूर्व आत्मविश्वास है और जिसका आत्मविश्वास प्रथम वाक्य में ही झलक जाता है, भला वह अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियों से गुजरता हुआ कैसे दिखलाई देगा? आत्मविश्वास और अन्त-र्द्वन्द्व का मेल नही हो सकता। अन्तर्द्वन्द्वों के स्थान पर शुक्लजी के लेखन में आक्रोश है। इसी तरह अपनी समकालीन स्थितियो से शुक्लजी ने असतोष व्यक्त किया है और उनकी दृष्टि में जो प्रवृत्तियाँ घातक थी, उन्होंने उसे रोकने की भरसक चेष्टा की है। शुक्लजी के व्यग्य उनके अपने समय की सामाजिक स्थितियो को (शुक्लजी की दृष्टि मे ही) स्पष्ट करते है। शुक्लजी का सारा आक्रोश व्यक्ति के लिए है, उस व्यक्ति के लिए है, जो सामाजिक दायित्वों को भूल बैठा है, अपनी परम्पराओं को जानता नही है और न ही अपनी ओर से इस दिशा में (परम्परानुसार अनुमोदित नैति-कता) जानने के लिए प्रयत्नशील है। शुक्लजी व्यग्य भी करते है तो उसमें उनका हेतु व्यक्ति को सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग करना रहा है। जहाँ जहाँ व्यक्ति सामाजिक दायित्वों से विमुख होता हुआ दिखलाई देता है, (शुक्लजी की दृष्टि में ही) वहाँ–वहाँ वे व्यग्य करते जान पडते है। उनके व्यग्यों में उनके भीतर का आत्मविश्वास हँसता रहता है। इस हँसी को पहचानना बहुत कठिन है। हँसने के क्षण उन्मुक्त हृदय के क्षण होते है और इन क्षणों में यदि हम किसी लेखक के साथ हो जाएँ (लेखक की भावना या लेखक की विचारधारा के साथ) तो हम उस लेखक के अन्तर का दर्शन कर सकते है। शुक्लजी बाहर से गभीर प्रतीत होते हैं। उनके हँसनेवाले व्यक्तित्व की झलक उनके व्यग्यों के बीच छिपी हुई है। सक्षेप मे शुक्लजी की विमर्शात्मक नैतिकता उनके आक्रोश और उनके व्यग्यो में निहित है। उनके लेखन का यह अंश उनके अपने समय के समाज से है। अत. अपने समय के समाज पर उनके द्वारा दी गई टिप्पणियाँ ही उनकी नैतिक मान्यताओं को—विमर्शात्मक नैतिक मान्यताओं को—व्यक्त करने में समर्थ हो सकती है।

११

अब हम शुक्लजी के आक्रोश और व्यग्य का विश्लेषण करे। यह पहले ही कह दिया गया है कि शुक्लजी का आक्रोश और व्यग्य व्यक्ति के प्रति

हैं। उस व्यक्ति के प्रति जो सामाजिक दायित्वों को भूल बैठा है। अतः यह माना जा सकता है कि शुक्लजी की दृष्टि में एक आदर्श समाज की कल्पना है। उनका यह आदर्श समाज रामचरितमानस का आदर्श समाज है। रामराज्य की कल्पना उनके मानस में विराजमान है। शुक्लजी का स्वप्न तुलसी के इस स्वप्न से पूर्णतः मेल रखता है। ऐसा कहा जा सकता है :-

कबहुँक हौ यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
यथालाभ संतोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन, पर गुन नहि दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।

... विनयपत्रिका, १७२

इस कथन के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। कहना यह है कि व्यक्ति को इस दिशा में (हृदय परिवर्तन करने के लिए) मोड़ना कि वह तुलसी के इस पद के भावानुकूल अपनी आत्मा को सहज रूप में निर्मल करने के लिए तैयार हो जाय, शुक्लजी का लक्ष्य प्रतीत होता है।

शुक्लजी व्यक्ति के प्रति (व्यक्ति के स्वभाव-संशोधन के लिए) जितने अधिक सचेत जान पड़ते है, उतने समाज के प्रति नहीं। यदि यह कह दिया जाय कि समाज के वैज्ञानिक स्वरूप की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया तो अनुचित नहीं होगा। इसीलिए शुक्लजी का नैतिक पक्ष एकांगी हो गया है। उनका आक्रोश और व्यंग्य अपनी जगह ठीक होने पर भी (उनके भीतर समाज की मंगल कामना होने पर भी) वह समस्याओं का-सामाजिक समस्याओं का --नैतिक निदान प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। समाज की परिवर्तित स्थितियों की कल्पना शुक्लजी ने नहीं की है। समाज को स्थिर मान लेना, एक निश्चित संस्कृति के भीतर समाज की आदर्श कल्पना कर लेना एवं उन्हीं सामाजिक मानदण्डों को स्वीकार कर लेना (मानस के समाज) अपने युग के समाज से कटकर रहना है। और जो अपने युग के समाज से कटकर रहता है, उसमें उस समाज के प्रति आक्रोश का भाव आ जाता है। आक्रोश का कारण फिर समाज को न मानकर व्यक्ति

को मानना क्यों कि व्यक्ति दूषित हो गया है, अतः समाज मे गड़बड़ी है। व्यक्ति के स्वभाव-संशोधन से फिर अतीत को स्थापित करने की चेष्टा, यह सब ऐसा चक्र है जिसमें शुक्लजी उलझ गए है और इस कारण उनकी नैतिक मान्यताएँ विमर्शात्मक (बदलती परिस्थितियों के अनुरूप) स्वरूप लेने में असमर्थ रह गई है। इस पर भी शुक्लजी की प्रशंसा इस बात में की जा सकती है कि शुक्लजी व्यक्ति विशेष पर (व्यक्तिगत रूप में) न अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं और न ही व्यंग्य। उनका आक्रोश और व्यंग्य सामान्योन्मुख है। अर्थात् शुक्लजी का आक्रोश और व्यंग्य प्रवृत्तियों के प्रति है; उन प्रवृत्तियों के प्रति जो उनके अपने आदर्श समाज की कल्पना के विपरीत है। यह पहले ही कह दिया गया है कि शुक्लजी में अन्तर्द्वन्द्व नही मिलता। अन्तर्द्वन्द्व के क्षण, किसी व्यक्ति के जीवन में उस समय आते है, जब व्यक्ति नैतिक विकल्पों में फंसा रहता है और विकल्पों से संकल्प की ओर आने में प्रयत्नशील रहता है। यदि व्यक्ति अपने इन नैतिक विकल्पों को संकल्प में बदलने की सही सही स्थिति व्यक्त कर दें और यदि राह पा ले तो निष्कर्ष रूप में जिस नैतिक पक्ष को वह स्वीकार कर लेगा, वह नैतिक पक्ष विमर्शात्मक नैतिकता का रूप होगा। अन्तर्द्वन्द्व के क्षण व्यक्ति की कमजोरी के क्षण होते हैं और समस्याओं का निदान खोजने के क्षण होते हैं। इन क्षणो में व्यक्ति नैतिक बल प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। इन क्षणों में व्यक्ति स्वयं को समाज के साथ समायोजन (Adjustment) के लिए प्रयत्न करता रहता है। इन क्षणों में व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियाँ अधिक जाग्रत और सशक्त होती है और व्यक्ति चाहता है कि समाज उसको समझे और न समझने की असमर्थता (समाज द्वारा व्यक्ति के न समझने की असमर्थता) ही उसके अन्तर्द्वन्द्व का कारण होती है। आक्रोश की स्थिति इससे कुछ विपरीत है। अन्तर्द्वन्द्व जहाँ अपने प्रति होता है, आक्रोश वहाँ औरों के प्रति होता है। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति के मानस का विश्लेषण करने लगता है, दूसरे व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को समझकर उसका निदान अपनी ओर से प्रस्तुत करने लगता है और इस निदान में उन प्रवृत्तियों को जिन्हे वह अनुचित और घातक समझता है, उनके प्रति वह जो कुछ कहता है, वह आक्रोश का भाग होता है। पिता को अपने पुत्र पर आक्रोश हो सकता है। इसी तरह पत्नी को अपने पति पर आक्रोश हो सकता है। आक्रोश की इन स्थितियों मे व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई देता है। चूंकि दूसरा व्यक्ति अपने अनुरूप नहीं है अतः उसके प्रति अपने अनुरूप बनाने की स्थितियों पर विचार करते समय मन में–वैयक्तिक रूप में ही–आवेग होता है, यह आवेग आक्रोश

के रूप में फूट पड़ता है। आचार्य शुक्लजी का आक्रोश व्यक्ति के प्रति इस प्रकार का है। इसमें भी उनका आक्रोश विशेष रूप से उन व्यक्तियों के प्रति है, जो अपने को विद्वान् तथा पंडित समझते हुए भी ऐसी प्रवृत्तियों को अपनाए हुए हैं, जो समाज के लिए (शुक्लजी के दृष्टि में) घातक हैं। शुक्लजी का यह आक्रोश भी (जैसे कि पहले ही कह दिया गया है) व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं, प्रवृत्तियों के प्रति है, ऐसा कहा जा सकता है। यों कहना चाहिए कि शुक्लजी का आक्रोश वस्तुमूलक है, व्यक्तिमूलक नहीं है। जहाँ प्रवृत्ति को काटना है, वहाँ वे उस प्रवृत्ति का विवेचन विस्तार से करेंगे और बाद में उसके उस स्वरूप का उद्घाटन करेंगे, जिसे वे उचित नहीं समझते। उचित न समझने का वे कारण देंगे और उस सम्बन्ध में अपनी ओर से सकारात्मक सुझाव भी देंगे। इस सब के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम किया है। किसी प्रवृत्ति को नकारना इतना सरल नहीं है। शुक्लजी ने किसी प्रवृत्ति को चलते ढंग से नहीं नकारा है। क्रोचे का विरोध या क्रोचे का विरोध करने से पहले उन्होंने उनके मत को समझने की कोशिश की है। आक्रोश के साथ–साथ शुक्लजी व्यंग्य भी करते चलते हैं। उनका व्यंग्य विशेष रूप से उन व्यक्तियों के प्रति है जो नासमझ हैं या अनजान में अज्ञान के कारण कुछ-को-कुछ समझ बैठे हैं। व्यंग्य करते समय भी शुक्लजी कुछ-को-कुछ समझने का उद्घाटन करते हैं और चुप हो जाते हैं। बहुत हुआ तो स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। बहुत जगह नाम को जानते हुए भी (व्यक्ति विशेष के) नाम को शुक्लजी ने लिखा नहीं है। उदाहरण के लिए :–

> "पर आजकल इस प्रकार का (प्रकृति से परिचय) परिचय बाबुओं के लिए लज्जा का विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया ... वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला–'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है। इस पर लख-नवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, 'यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में भारी बट्टा लगाता है।"
>
> पृ. ७८-७९

इन पंक्तियों में व्यंग्य है। कहीं कहीं व्यंग्य और आक्रोश दोनों साथ साथ हो गए हैं। दोनों में से कौन प्रधान है, यह पहचानना कठिन हो गया है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।–

"उदाहरण के लिए आत्मग्लानि और क्षोभ के वे वचन जिनके द्वारा वह (हैमलेट) स्त्री जाति की भर्त्सना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मनबहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सब से उज्ज्वल उदाहरण होगा।" पृ. २३५

१२

और अब अन्त में शुक्लजी के नैतिक बल को परखें। उनकी इस शक्ति का रहस्य उनका अपना आत्मविश्वास है। उनके इस आत्मविश्वास का कारण उनका अपना ज्ञान है। यह मानी हुई बात है कि ज्ञान प्रकाश का सूचक है। किसी विषय के अन्तर्बाह्य विश्लेषण की क्षमता, उस विषय के प्रति विश्वास को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है। शुक्लजी का आत्मविश्वास इसीलिए अन्ध-विश्वास नहीं कहा जा सकता। ज्ञान के लिए सब से बड़ा आधार तथ्य होते हैं। तथ्यों पर दृष्टि रखना और तथ्यों की मीमांसा करना तथ्य के भीतर निहित सत्य तक पहुंचने का प्रयास होता है। शुक्लजी की दृष्टि प्रारम्भ से ही तथ्यों पर रही है। इसीलिए उनके कथनों में (तथ्यों की ज्ञानमूलक मीमांसा के कारण) विश्वास झलकता है। मनोविकारों का अध्ययन (विश्लेषण एवं मूल्यांकन) समाज-मनोवैज्ञानिक है। इस ज्ञान को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। रसेल ने लिखा है-"विज्ञान तत्वतः ज्ञान की व्यवस्थित खोज के अलावा और कुछ नहीं है। और ज्ञान अपने तात्त्विक रूप में मंगलमय ही है-कुछ बुरे लोग उसका चाहे जितना दुरुपयोग करें। ज्ञान पर ही विश्वास खो बैठना मनुष्य की सर्वोत्तम क्षमता पर विश्वास खो देना होगा, और इसलिए मैं निस्संकोच इस बात को दोहराता हूँ कि एक कम विकसित युग के बचकाना सन्तोषों की खोज करनेवाले भीरु लोगों की अपेक्षा दृढ़ तर्कवादी का विश्वास अधिक अच्छा है। उसका आशावाद अधिक पौरुषमय और दृढ़ है।"[1] रसेल की इन पंक्तियों में शुक्लजी की शक्ति के (नैतिक शक्ति के) रहस्योद्घाटन का संकेत है। शुक्लजी का सन्तोष बचकाना नहीं है। वह दृढ़ है। इसीलिए विश्वास में आशावादी स्वर है और यह आशावाद पौरुषमय है।

---

१. वैज्ञानिक परिदृष्टि-बर्ट्रेंड रसेल-(अनुवादक: गंगारतन पाण्डेय) पृ. १०३-१०४

शुक्लजी के विश्वास को तर्कवादी विश्वास कहा जा सकता है। जिस विश्वास के पीछे तर्क का बल हो, वह विश्वास जीवनी-शक्ति का द्योतक होता है। यह जीवनी-शक्ति शुक्लजी में है। यह शक्ति उस समय और बलवान मानी जा सकती है (तर्काश्रित विश्वास की शक्ति) जब विश्वास रखनेवाला (व्यक्तित्व) पक्ष-विपक्ष दोनों का वस्तुमूलक विवेचन (तथ्यों के आधार पर) करने में समर्थ हो। अपने विश्वास के लिए सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार के तर्क देने आने चाहिए। नकारना बहुत सरल है। किन्तु नकारने के स्थान पर सकारने वाली स्थितियों को निदान रूप में (विश्वास के साथ) प्रस्तुत करना बहुत कठिन है। शुक्लजी के तर्कों में सकारने (विश्वास के समर्थन योग्य तर्क) और नकारने (विश्वास के विरोध में प्रचलित प्रवृत्तियों का खण्डन करने वाले तर्क) दोनों की अपूर्व शक्ति है। उनकी हाँ में और ना में अपूर्व बल है। शुक्लजी बीच की स्थिति (गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमुनादास वाली स्थिति) को पसंद नहीं करते। आज शुक्लजी को नकारा जा रहा है किन्तु सकारनेवाली स्थिति (नकार के अभाव की पूर्ति करनेवाली स्थिति) अब भी दिखलाई नहीं देती। घूम-फिर कर हम फिर शुक्लजी की ओर देखते हैं। उनका नैतिक बल आज भी हम लोगों को नैतिक बल प्रदान कर रहा है। शुक्लजी का महत्त्व केवल ऐतिहासिक नहीं है, (अपने समय में ही मूल्य रखनेवाला महत्त्व) वह आज भी हमारे लिए उपयोगी है जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है, शुक्लजी का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। शुक्ल के बल को पहचानकर ही हम शुक्ल की परम्परा को आज की स्थिति में आगे बढ़ा सकते हैं। उनकी कमजोरियों का उद्घाटन तो हुआ है, किन्तु उन कमजोरियों के कारणों की नैतिक मीमांसा नहीं हुई है। यहाँ ऊपर जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह इस दिशा में बहुत संक्षिप्त प्रयास है। अन्त में कहना यह है कि शुक्लजी की शक्ति का रहस्य उनकी नैतिक मान्यताओं में निहित है। और इसी तरह उनकी कमजोरियाँ भी नैतिक मान्यताओं में निहित हैं। और नैतिक मान्यताएँ समाज-संस्कृति-सापेक्ष होती हैं, अतः यह विवेचन समाज-संस्कृति-सापेक्ष स्थितियों के संदर्भ में करने से ही नैतिक मान्यताओं का विवेचन वैज्ञानिक हो सकता है। इस दृष्टि से शुक्लजी अपने युग का समाज-संस्कृति-सापेक्ष स्थितियों का नैतिक मूल्यांकन करनेवाले हिन्दी के एकमात्र चिन्तक तथा मनीषी हैं। इस दृष्टि से उनका महत्त्व अपनी जगह सदैव बना रहेगा।

७. और अन्त में

७. और अन्त में

अब तक शुक्लजी के सम्बन्ध में (चिन्तमणी भाग १ के आधार पर) लिखे गए अध्यायों का यहाँ समाहार करते हुए, यह उपसंहार लिखना है। यद्यपि अब नया कुछ भी कहने के लिए नही है किन्तु इन अध्यायो के क्रम एवं उद्देश्य को स्पष्ट करना आवश्यक है। इसी तरह पुस्तक की योजना एवं उसकी सीमाओं को भी स्पष्ट करना है। इसी दृष्टि से यह उपसहार लिखा जा रहा है।

आचार्य रामचद्र शुक्ल ने बहुत लिखा है। उनकी सब रचनाओ को ध्यान में रखकर उनकी साहित्यिक अभिरुचि, उनका आचार्यत्व, उनकी समीक्षाओं तथा उनकी नैतिक मान्यताओं आदि का विवेचन संभव है। पुस्तक में ऐसा नहीं किया गया है। (यद्यपि इन रचनाओं का अध्ययन लेखक ने किया है और लिखते समय अप्रत्यक्ष रूप मे इनका उपयोग हुआ है।) इस

पुस्तक मे ध्यान विशेष रूप से चिन्तामणि भाग १, के निबन्धो पर ही केन्द्रित किया गया है। सर्वत्र उदाहरण प्राय चिन्तामणि भाग १, मे ही दिए गए हैं। विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा सीमित अध्ययन को व्यापक स्तर पर करने का यह प्रयास है। यह तो पुस्तक की बात हुई। निबन्धो का (अध्यायों का) चुनाव करते समय---शीर्षक देते समय---भी ध्यान प्राय 'चुने हुए निबन्धों पर या निबन्ध विशेष पर रहा है। प्रयत्न इस बात का किया गया है कि कोई निबन्ध छूटने न पाए। इस दृष्टि से प्रत्येक अध्याय का दृष्टिकोण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रथम अध्याय '**मनोविकारों का मूल्यांकन**' है। इस अध्याय मे भाव या मनोविकार से लेकर क्रोध तक के १० निबन्धो का विश्लेषण तथा मूल्यांकन है। '**कविता : प्रयोजन एवं आवश्यकता**' अध्याय के अन्तर्गत '**कविता क्या है ?**' का विवेचन है। '**अभिरुचि और समीक्षा**' के अन्तर्गत '**भारतेन्दु हरिश्चंद्र**' '**तुलसी का भक्तिमार्ग**' तथा '**मानस की धर्म-भूमि**' इन तीनो का अध्ययन प्रस्तुत करना था किन्तु विस्तार केवल 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' निबन्ध को ही मिल पाया है। अन्य दोनो निबन्धो का उपयोग अन्यत्र भी होता रहा है। इसी तरह '**सिद्धान्त और व्यवहार**' अध्याय के अन्तर्गत '**साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद**' निबन्ध का विश्लेषण है। इस निबन्ध मे अप्रत्यक्ष रूप से '**काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था**' का भी उपयोग हुआ है तथा तुलसी सम्बन्धी दोनों निबन्धों का भी। '**भाषा और शैली**' वाले अध्याय मे '**रसात्मक बोध के विविध-रूप**' को ही विशेष रूप से आधार बनाया गया है। और अन्तिम '**नैतिक मान्यताएं**' में पुस्तक के (चिन्तामणि भाग १) सारे निबन्धो का उपयोग है। इस तरह से प्रयत्न इस बात का किया गया है कि पुस्तक का कोई निबन्ध विवेचन की दृष्टि से छूटने न पाए। शुक्लजी की पुस्तकों मे केवल चिन्तामणि भाग १, और चिन्तामणि भाग १, में भी (किसी प्रवृत्ति का विश्लेषण करने के लिए) किसी निबन्ध विशेष या चुने हुए निबन्धों को ही अध्यायों का आधार बनाया गया है। इन सीमाओं मे बंधकर लिखने से सभव है कि विवेचन एव विश्लेषण मे पूर्णता न आ पाई हो। उदाहरण के लिए '**भाषा और शैली**' का विवेचन '**रसात्मक बोध के विविध रूप**' के आधार पर किया गया है। इस आधार पर और निबन्धो की भाषा और शैली का विवेचन, उसी रूप में सभव है। इसी तरह '**सिद्धान्त और व्यवहार**' अध्याय में ध्यान प्राय '**साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद**' पर ही रहा है। किन्तु अन्यत्र भी ये प्रवृत्तियाँ मिल सकती हैं। कहना यह यह है कि पुस्तक के निबन्धों (अध्यायों को) को शीर्षक देते समय निबन्धो मे विषय एव प्रवृत्ति दोनो को ध्यान में रखा गया है। इस तरह से देखने पर पहले दो निबन्धो के शीर्षक विषय ('**मनोविकारो का मूल्यां-**

आचार्य शुक्ल के 'आचार्यत्व' पर विचार किया जायगा, तब सब से पहले हमारी दृष्टि चिंतामणि भाग १, पर ही जायगी। जब कि सच्चाई यह है कि शुक्लजी का लक्ष्य (उनके निवेदन को देखते हुए—पुस्तक के आरम्भ में दिए गए) आचार्य का नहीं रहा है। शुक्लजी की अन्तर्यात्रा के प्रदेश इन निबन्धों में है (शुक्लजी के शब्दो में निवेदन के) और यह यात्रा उनकी बुद्धि कर रही है। उनकी बुद्धि ने साहित्यिक समस्याओं का चिन्तन किया है। चिन्तन का सहज परिणाम उनके निबन्धों मे है। साहित्यिक समस्याओं का चिन्तन करने के नाते सैद्धांतिक रूप में कुछ कहना पड़ा है। यह कथन साहित्य की व्यावहारिकता के निदान के रूप मे है। प्रधानतः शुक्लजी साहित्य की (काव्य की) मीमांसा ही करते रहते है। इस मीमांसा मे उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से प्राचीन आचार्यों के सिद्धांतों का समर्थन किया है और पाश्चात्य विचारकों (साहित्य शास्त्र सम्बन्धी विचारकों) का खण्डन किया है। इस समर्थन और विरोध में उन्होंने साहित्य की (काव्य की) व्यावहारिक कठिनाइयों को अपनी दृष्टि से, स्वानुभव के आधार पर परखा अतः समर्थन और विरोध में मौलिक रूप में उन्हें भी कुछ कहना पड़ा है। इस प्रकार के कथन की क्षमता ने ही उनको आचार्यत्व के पद पर आसीन होने में सक्षम बना दिया है। शुक्लजी का आचार्यत्व आनुषंगिक (bi-product) है। वह उनका गौण लक्ष्य है।

चिंतामणि के चिन्तन को जब साहित्यिक चिन्तन कहा जाता है, तो उसका एक कारण यह है कि साहित्य के प्रयोजन और आवश्यकता दोनों पर शुक्लजी विचार करते है। इस दृष्टि से 'कविता क्या है?' निबन्ध अच्छा है। यहाँ कहना यह है कि शुक्लजी 'साहित्य' का वस्तुमूलक (objective) अध्ययन करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार का प्रयास वैज्ञानिक प्रयास ही हो सकता है। अत. शुक्लजी के साहित्यिक चिन्तन को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। एक ओर जहाँ वे साहित्य के प्रयोजन पर विचार करते हैं, वहीं वे दूसरी ओर उसकी आवश्यकता पर भी बल देते हैं। उनका साहित्यिक-चिन्तन व्यावहारिक है। सिद्धान्तों की घोषणा करना एवं उनकी मीमांसा करना (सिद्धान्त मात्र की) शुक्लजी का लक्ष्य नहीं है। उनके साहित्यिक-चिन्तन में प्रयोजन और आवश्यकता का विवेचन है।

और अन्त मे इस साहित्यिक चिन्तन को नैतिक दायित्व से किया गया चिन्तन कह सकते है। आचार्य शुक्ल ने कवि को बहुत ऊंचा स्थान दिया है। आचार्य शुक्ल कवि को नैतिक-दायित्वों से मुक्त नहीं मानते उन्होंने भावयोग की साधना को कर्मयोग एव ज्ञानयोग के समकक्ष स्थान दिया है। इस नाते शुक्लजी के साहित्यिक-चिन्तन मे भारतीय विचारधारा को नई दीप्ति प्राप्त हुई है।

और अन्त में